विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म.प्र.)

वर्ष: २३ अंक: ४
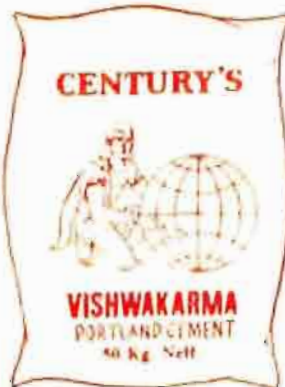
विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर–नवम्बर–दिसम्बर

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक ८)

एक प्रति २।।)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर–४९२००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

कवर-चित्र परिचय : **स्वामी विवेकानन्द**

मुद्रणस्थल : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर-४५२००९ (म.प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २३] अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर ★ १९८५ ★ [अंक ४

सबसे बड़ा सन्तोष-धन

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या
सम इह परितोषो निर्विशेषावशेषः ।
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान्को दरिद्रः ।।

—हम वृक्षों की छाल पहनकर सन्तुष्ट हैं; आप लक्ष्मी से सन्तुष्ट हैं ! हमारा और आपका दोनों का सन्तोष समान है, कोई भेद नहीं। वही दरिद्री है, जिसके मन में तृष्णा है। मन में सन्तोष आने पर कौन धनी और कौन निर्धन है ?

—भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्', ५०

अग्नि - मंत्र

(स्वामी स्वरूपानन्द को लिखित)

गोपाल लाल विला,
वाराणसी छावनी,
९ फरवरी, १९०२

प्रिय स्वरूप,

...चारु के पत्र के उत्तर में उससे कहना कि ब्रह्म-सूत्र का वह स्वयं अध्ययन करे। उसका यह कहने से क्या अभिप्राय है कि ब्रह्मसूत्रों में बौद्ध मत का संकेत है? निश्चय ही उसका मतलब भाष्य से होगा—होना चाहिए, और शंकराचार्य केवल अन्तिम भाष्यकार थे; हाँ, बौद्ध साहित्य में भी वेदान्त का कहीं-कहीं उल्लेख है और बौद्धों का महायान मत अद्वैतवादी भी है। अमरसिंह नाम के एक बौद्ध ने बुद्ध के नामों में अद्वयवादी का नाम क्यों दिया था? चारु लिखता है कि ब्रह्म शब्द उपनिषद् में नहीं आता है! वाह!!

बौद्ध धर्म के दोनों मतों में मैं महायान को अधिक प्राचीन मानता हूँ। माया का सिद्धान्त ऋक् संहिता के समान प्राचीन है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'माया' शब्द का प्रयोग है, जो प्रकृति से विकसित हुआ है। इस उपनिषद् को कम से कम मैं बौद्ध धर्म से प्राचीन मानता हूँ।

बौद्ध धर्म के विषय में मुझे कुछ दिनों से बहुत-सा ज्ञान हुआ है। मैं इसका प्रमाण देने को तैयार हूँ कि—

(१) शिव-उपासना अनेक रूपों में बौद्धमत से पहले स्थापित थी, और बौद्धों ने शैवों के तीर्थस्थानों को लेने का प्रयत्न किया, परन्तु असफल होने पर उन्होंने उन्हीं के

निकट नये स्थान बनाये, जैसे कि बोधगया और सारनाथ में पाये जाते हैं।

(२) अग्निपुराण में गयासुर की कथा का बुद्ध से सम्बन्ध नहीं है--जैसा कि डॉ० राजेन्द्रलाल मानते हैं--परन्तु उसका सम्बन्ध केवल पहले से ही वर्तमान एक कथा से है।

(३) बुद्धदेव गयाशीर्ष पर्वत पर रहने गये, इससे यह प्रमाण मिलता है कि वह स्थान पहले से ही था।

(४) गया पहले से ही पूर्वजों की उपासना का स्थान बन चुका था, और बौद्धों ने अपनी चरण-चिह्न उपासना में हिन्दुओं का अनुकरण किया है।

(५) प्राचीन से प्राचीन पुस्तकें भी यह प्रमाणित करती हैं कि वाराणसी शिव-पूजा का बड़ा स्थान था, आदि-आदि।

बोधगया से और बौद्ध साहित्य से मैंने बहुत सी नयी बातें जानी हैं। चारु से कहना कि वह स्वयं पढ़े तथा मूर्खतापूर्ण मतों से प्रभावित न हो।

मैं यहाँ, वाराणसी में अच्छा हूँ और यदि मेरा इसी प्रकार स्वास्थ्य सुधरता जायगा, तो मुझे बड़ा लाभ होगा।

बौद्ध धर्म और नव-हिन्दू धर्म के सम्बन्ध के विषय में मेरे विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। उन विचारों को निश्चित रूप देने के लिए कदाचित् मैं जीवित न रहूँ, परन्तु उसकी कार्यप्रणाली का संकेत मैं छोड़ जाऊँगा और तुम्हें तथा तुम्हारे भ्रातृगणों को उस पर काम करना होगा।

आशीर्वाद और प्रेमपूर्बक तुम्हारा,

विवेकानन्द

o

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

ग्यारहवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन के एक उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। —स०)

केशव और विजय* का मतभेद

श्रीरामकृष्ण केशव के साथ स्टीमर में बैठ गंगा के वक्ष पर भ्रमण कर रहे हैं। अविराम ईश्वर-प्रसंग चल रहा है। विजय और केशव के बीच जो मतभेद है, ठाकुर उसे दूर करने की चेष्टा करते हैं। केशव और विजय परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ थे। बाद में मतभेद हो जाने से विजय केशव के ब्राह्मसमाज को छोड़कर अलग हो गये। परिणामत: दोनों के अनुचरों के मध्य मनोमालिन्य दिखाई पड़ने लगा। इसलिए ठाकुर इन दोनों के बीच सुलह करा देने की चेष्टा करते हैं। उनके मतभेद का उल्लेख करते हुए ठाकुर कहते हैं कि उनका झगड़ा मानो शिव और राम के झगड़े के समान है। शिव के गुरु राम हैं और राम के गुरु शिव। उनका झगड़ा तो मिट गया, लेकिन उनके अनुचरों

---

* विजयकृष्ण गोस्वामी—ब्राह्मसमाज के अग्रणी नेता।

अर्थात् वानरों और भूत-प्रेतों का झगड़ा नहीं मिटा। ठाकुर और भी कहते हैं, गुरु-शिष्य का यह झगड़ा कोई नयी बात नहीं है। गुरु के साथ रामानुज का मतभेद हुआ था। लेकिन गुरु-शिष्य का सम्बन्ध मानो पिता-पुत्र के सम्बन्ध के समान है। बाहर से उनमें परस्पर कितना भी विरोध क्यों न दिखे, पर भीतर उनमें एक दूसरे के प्रति एक गहरा खिंचाव बना रहता है।

इसके बाद ठाकुर केशव को समझाते हैं—उनका दल इसलिए टूट रहा है कि वे स्वभाव देखकर शिष्य नहीं बनाते। कहना न होगा कि केशव के दल के फूटने का कारण था उनका अपनी अल्पवयस्क पुत्री का विवाह कूचबिहार के राजा के साथ कर देना। ब्राह्मसमाज के कर्णधार होते हुए भी समाज की इस प्रतिज्ञा को कि अल्पवयस्क लड़की का विवाह नहीं करना चाहिए, उन्होंने स्वयं ही तोड़ा। इससे विरोध पैदा हुआ और विजयकृष्ण गोस्वामी ने उनके दल को छोड़कर एक नये दल का गठन किया।

ठाकुर की अभिमानशून्यता

ठाकुर कह रहे हैं कि केशव गुरु बनकर बिना विचार किये जिस किसी को भी शिष्य के रूप में ग्रहण कर लेते हैं; परिणामतः सभी उन्हें समभाव से ग्रहण नहीं कर पाते और इसी कारण दल फूट जाता है। ठाकुर कह रहे हैं—लेकिन मेरा भाव तो दूसरा है, मैं तो खाता-पीता मस्त हूँ, बाकी सब माँ जाने। तीन बातें मेरे शरीर में काँटे-जैसी चुभती हैं—गुरु, कर्ता और पिता। अर्थात् 'मैं गुरु हूँ'—यह भाव उनमें नहीं है। ऐसी कर्तृत्व-बुद्धि रहने से अभिमान पैदा होता है और अभिमान से ही पतन होता है। देखा जाता है कि कर्तृत्व-बोध के कारण मनुष्य में दूसरों को

चलाने का आग्रह बहुत रहता है, पर स्वयं के चलने के प्रति आग्रह उतना नहीं रहता। फल वही होता है जैसा उपनिषद् में कहा गया है—'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'—उसकी अवस्था अन्धे के द्वारा चलाये जानेवाले अन्धे के समान होती है। इस गुरुगिरी से केशव को सावधान किये दे रहे हैं। दूसरी ओर वे अपने भाव की बात कह रहे हैं कि वे तो माँ के हाथ का यंत्र हैं। माँ जैसा चलाती हैं, वैसा ही चलते हैं। जब तक तत्त्व दुर्ज्ञेय है, पथ अजाना है, उस पर दूसरे को चलाना कितना कठिन है! उस पथ पर दूसरे को चलाने से पहले हमें स्वयं अपने आप से प्रश्न पूछना होगा कि क्या हम भ्रम से शून्य हैं? हम स्वयं यदि भ्रमरहित नहीं हैं, तो दूसरे को जो निर्देश देंगे, वह भ्रान्तिशून्य कैसे होगा? इसलिए ठाकुर कहते हैं कि सब कुछ ईश्वर के ऊपर छोड़ देना चाहिए।

गुरु वे ही हो सकते हैं, जिन्हें ईश्वर गुरु होने का निर्देश देते हैं। तब ईश्वर उनके भीतर प्रतिष्ठित हो अन्यों को परिचालित करते हैं। वहाँ गुरु का कोई कर्तृत्व नहीं होता, कर्तृत्व तो भगवान् का होता है। गुरु वहाँ एक माध्यम बनकर कार्य करता है। यदि भगवान् हमें अन्य लोगों को परिचालित करने का अधिकार न दें, तो हम लोगों की बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ईसामसीह उपदेश दे रहे हैं; एक ने कहा— 'He speaks like one with authority' —उनकी बातों में ऐसा जोर है कि लगता है, वे आदेश पाकर बोल रहे हैं।

गुरु-शिष्य-सम्बन्ध

ठाकुर कह रहे हैं कि गुरु एक सच्चिदानन्द भगवान् को छोड़ और कोई नहीं। शास्त्र का भी यही सिद्धान्त है।

जब हम प्रणाम-मंत्र में कहते हैं—'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु-र्गुरुर्देवो महेश्वरः', तब हमें यही लगता है कि 'मेरे गुरु अमुक पण्डितजी हैं'—वे ब्रह्मा, विष्णु या महेश्वर हैं, यह बात अनुभव में नहीं आती। शास्त्र के तात्पर्य को यहाँ पर हमें भाव की दृष्टि से समझना होगा। अमुक पण्डितजी का मैंने जो नाम लिया, वे गुरु नहीं हैं—गुरु हैं साक्षात् सच्चिदानन्द ईश्वर। हो सकता है वे किसी आधार को माध्यम बना अपनी कृपा का वितरण करें, लेकिन वह कृपा-वितरण तभी सार्थक होता है, जब वह माध्यम शुद्ध होता है। यदि उस माध्यम में अशुद्धि रहे, तो उनकी कृपा अबाध रूप से प्रवाहित नहीं हो पाती। इसलिए किसी का गुरुरूप में वरण करने से पूर्व शिष्य के लिए उचित है कि वह उसके गुरु होने के अधिकार-अनधिकार का विचार करे। शास्त्र कहते हैं कि जिस व्यक्ति का गुरुरूप में वरण करना होगा, उसे जानना होगा, उसके साथ परिचित होना होगा, उसके आचरण को देखना होगा। गुरु यदि अनधिकारी हो, तो वह शिष्य को ठीक-ठीक परिचालित नहीं कर सकेगा। यही शास्त्र का सिद्धान्त है। शिष्य के प्रति भी ठीक इसी प्रकार का विचार प्रयोजनीय है। शिष्य भी यदि उपयुक्त गुणों से सम्पन्न न हो तो वह भी आगे नहीं बढ़ सकेगा। गुरु को स्वयं शुद्ध-चरित्र होना होगा, शिष्य के प्रति कारुणिक हो उसके पथ-प्रदर्शन के लिए उन्हें यथासाध्य चेष्टा करनी होगी, तथा इस सम्बन्ध में अत्यधिक सावधान रहना होगा कि शिष्य के प्रति उनके मन में किसी प्रकार का आर्थिक आदान-प्रदान का भाव न रहे, गुरु-शिष्य-सम्बन्ध कहीं व्यावसायिक न बन जाय। शास्त्र कहते हैं कि गुरु श्रोत्रिय-शास्त्रज्ञ होंगे; वे ब्रह्मनिष्ठ होंगे—शास्त्र

के सिद्धान्त को जीवन में उतारकर उसमें प्रतिष्ठित रहेंगे; वे अकामहत होंगे अर्थात् शिष्य के साथ उनके सम्बन्ध के पीछे उनकी कोई निहित कामना न होगी। फिर वे अपने अहं के अभिमान से मानो रहित रहेंगे। गुरु अपनी अयोग्यता का सबसे अधिक परिचय तब देंगे, जब वे अपने अहं को यह कहकर प्रदर्शित करेंगे कि 'मैं उपदेश देता हूँ, सुनो। मैं निर्देश देता हूँ, तुम इसके अनुसार चलो।' गुरु को यह जान रखना होगा कि वे मात्र एक आधार हैं, ठीक वैसे ही जैसे हमारे लिए एक मिट्टी की प्रतिमा माध्यम बनती है। प्रतिमा जैसे देवता नहीं है, वैसे ही वे भी गुरु नहीं हैं, मात्र गुरुशक्ति के प्रकाश का एक माध्यम है। इसलिए ठाकुर कह रहे हैं—गुरु वही सच्चिदानन्द हैं तथा इस दृष्टि से देखने पर ही 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः' यह कहना सम्भव होगा। मनुष्य होकर जन्म लेने से व्यक्ति में कुछ न कुछ अपूर्णता रहेगी ही, अतः वह अपूर्ण व्यक्ति कभी भी परब्रह्म नहीं हो सकता, यह बात सबको समझ लेना उचित है, विशेषकर उनको जो गुरुपद पर प्रतिष्ठित हैं। रवीन्द्रनाथ कहते हैं—

"पथ भावे आमि देव, रथ भावे आमि
मूर्ति भावे आमि देव, हासे अन्तर्जामी।"

—'रथ, पथ, मूर्ति ये सभी अपने आपको देवता समझते हुए प्रणाम का उद्देश्य मानते हैं, और अन्तर्यामी यह सोचकर हँसते हैं कि ये लोग कैसी भूल कर रहे हैं।'

उपनिषद् में एक कथा आती है कि देवतागण युद्ध में असुरों को परास्त कर बहुत अभिमानी हो उठे थे। सर्वान्तर्यामी परमेश्वर ब्रह्म देवताओं के इस मनोभाव को समझ गये और वे उनके अभिमान को दूर करने के लिए एक अपूर्व

यक्ष के रूप में आविर्भूत हुए। देवता उन्हें पहचान न सके। तब उन्होंने अग्नि को पहचानकर आने के लिए भेजा। अग्नि को देखकर यक्ष ने पूछा, "तुम कौन हो जी ?" अग्नि के अभिमान को धक्का लगा। अग्नि बोला, "मैं अग्नि हूँ, मैं जातवेदा हूँ।" आगन्तुक बोल उठे, "समझा, तुम्हारा छोटा नाम बड़ा नाम बहुत है, लेकिन यह तो बताओ, तुम क्या कर सकते हो ?" "मैं सारे संसार को जलाकर खाक कर सकता हूँ।"—अग्नि गरज उठा। "ऐसा ? तो जरा इस तिनके को जलाओ तो।"—आगन्तुक के ओठों पर व्यंग्य की हँसी खेल उठी। सुनकर अग्नि को खराब तो लगा, पर क्या करे, वह लगा तिनके को जलाने। पर यह क्या ? सारी शक्ति का प्रयोग कर चुकने पर भी वह उस तिनके पर आँच तक नहीं लगा सका। लज्जा के मारे सिर झुकाकर वह लौट आया। तब वायु को भेजा गया। वायु की भी अग्नि के समान ही दुर्दशा हुई। तब स्वयं इन्द्र गये। इन्द्र को और अधिक चोट पहुँचाने के लिए यक्ष अन्तर्धान हो गये। इन्द्र लज्जित होकर सिर लटकाये खड़े थे कि ऐसे समय वहाँ उमा हेमवती का आविर्भाव हुआ। वे बोलीं, "इन्द्र, तुम्हारे सामने जो आविर्भूत हुए थे, उन्हें तुम लोग नहीं पहचान सके, वे ही तो परब्रह्म हैं। असुरों के साथ युद्ध में उन्हीं की जय हुई है, उसमें तुम लोगों की कोई बहादुरी नहीं है।"

इसी प्रकार यदि हम सोचें कि कोई कार्य हमारी शक्ति से हो रहा है, तो हम भूल करेंगे। हममें अपनी कोई सामर्थ्य नहीं है। हमारे पीछे सर्वशक्ति का आधार विद्यमान है। वही हमें चलाता है, जैसे सूत्रधार धागे से कठपुतलियों को नचाता है। ठाकुर उपमा देते हुए कहते हैं—जैसे आलू-

परवल सीझने के समय उछलते दिखाई देते हैं; नीचे आग है, वही उन्हें उछालती है; आग के हटा लिये जाने पर सब कुछ ठण्डा पड़ जाता है। शास्त्र में कहा गया है—'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्, सर्वेभ्यो भूतेभ्यो अन्तरः, यं सर्वाणि भूतानि न विदुः, यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्, यः सर्वाणि भूतानि अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः'—अर्थात् जो सर्वभूतों में अवस्थित है, सर्वभूतों से पृथक् है, सर्वभूत जिसे नहीं जानते, सर्वभूत जिसका शरीर है, समस्त भूतों के भीतर रहकर जो उनका नियंत्रण कर रहा है—यही नियंत्रणकर्ता अन्तर्यामी ही अमरणधर्मा आत्मा है।

जिसकी शक्ति से सारी क्रियाएँ हो रही हैं, हमारी समस्त चेष्टाएँ नियंत्रित हो रही हैं, विडम्बना यह है कि उसी को 'सर्वाणि भूतानि न विदुः'—सर्वभूत नहीं जानते; और न जानने के कारण ही लोग भूल करके सोचते हैं कि 'मैं कर रहा हूँ'। यह जो स्वयं को कर्ता के आसन पर बैठाना है, इसी का नाम है अविद्या, अज्ञान। तभी तो ठाकुर बार-बार कहते हैं—"नाहं नाहं, तुहुँ तुहुँ"—मैं नहीं, सब कुछ तुम्हीं हो। इस दृष्टि से जब तक हम नहीं देखेंगे, तब तक उस आत्मा का प्रकाश हमारे भीतर नहीं होगा और हम आँखों में पट्टी बाँधकर कोल्हू के बैल के समान इस विश्व में जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसे हुए घूमते रहेंगे।

इसलिए जब तक ईश्वर आदेश नहीं देते, तब तक गुरु का पद ग्रहण करना उचित नहीं है। तर्कचूड़ामणि पण्डित शशधर शास्त्री से जब ठाकुर ने यह आदेशवाली बात पूछी, तब उन्हें कुछ संकोच का अनुभव हुआ। तभी तो ठाकुर कह रहे हैं कि आदेश प्राप्त किये बिना बात में वजन नहीं होगा, कोई यह न कहेगा कि 'He speaks like one with authority'

ईश्वर-लाभ और लोक-कल्याण

इसके पश्चात् ठाकुर कह रहे हैं—"तुम लोग जगत् के उपकार की बात कहते हो, जगत् को शिक्षा देने की बात कहते हो। तुम कौन होते हो जगत् का उपकार करनेवाले ? पहले उन्हें (भगवान् को) प्राप्त करो; उनके शक्ति देने पर तब कहीं तुम दूसरों का उपकार कर सकोगे, अन्यथा नहीं।" कई बार हम जगत् का उपकार करने की बात सोचते हैं। यह और कुछ नहीं, केवल अपने अन्तःकरण के छिपे अहंकार को एक आकर्षक रूप में प्रकाशित करना मात्र है। ईसामसीह ने एक सुन्दर बात कही थी कि 'तुम्हारी आँख में कुछ पड़ गया है और एक अन्य व्यक्ति की आँख में भी कुछ पड़ गया है। तुम उसकी आँख की किरकिरी निकालने जाते हो। पहले तुम अपनी आँख की किरकिरी तो निकाल लो। तभी तो देख पाओगे और दूसरे की आँख की किरकिरी निकाल सकोगे। हम अपने बारे में तो विचार करते नहीं और दूसरों के कल्याण की चिन्ता में व्यस्त हो जाते हैं। इसीलिए ठाकुर कह रहे हैं—"जिनका जगत् है, वे क्या जगत् का कल्याण करने में समर्थ नहीं हैं, जो तुम्हें जगत् का कल्याण करना होगा ?" कल्याण के सम्बन्ध में भला तुम्हारी धारणा ही कितनी है, जो तुम जगत् का कल्याण करोगे ?

'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः' —एक केश को सौ भागों में चीरने के बाद उसके एक-शतांश को पुनः सौ बार चीरने से जितना सूक्ष्म वह होगा, उतना यह जीव है। और इतना-सा जीव अहंकार करता है कि मैं जगत् का कल्याण करूंगा ! यह कैसा विकट अभिमान है कि मैं जगत् का कल्याण करूँगा और सारी

दुनिया मेरे इस उपकार की भिखारी बनी रहेगी।

तभी तो 'जीव पर दया' की बात को सुनकर ठाकुर बोल उठे थे, "दया ? दया करनेवाले तुम होते कौन हो ? कहो—'जीव की सेवा'।" सभी जीवों में वे शिव ही हैं, इस दृष्टि से उनकी सेवा करना। यदि हम इस भाव को ग्रहण करें, तभी हमारा कर्म साधना में परिणत होगा, नहीं तो जीवों पर दया करने जाने से हमारा अभिमान हिमालय के समान विशाल हो उठेगा, जिसके भार से हम पिस जाएँगे। स्वामीजी (विवेकानन्द), जिन्होंने कर्म की इतनी बातें कहीं, यह भी कहते हैं कि "यह जगत् मानो एक कुत्ते की पूंछ की तरह है। खींचतान करने से लगता है जैसे अब सीधी हो गयी। लेकिन छोड़ते ही जस की तस हो जाती है।"

जीव-सेवा

सच तो यह है कि यह जगत् एक पाठशाला है। इस पाठशाला में हम सीखने के लिए आये हैं। यदि सीखने की दृष्टि लेकर हम काम करें, तब तो हमें कुछ लाभ होगा, अन्यथा नहीं। 'जगन्नाथ का रथ उन्हीं की शक्ति से चलता है, तुम्हारी शक्ति से नहीं। तुम उस रथ की रस्सी को छूकर स्वयं के जीवन को सार्थक कर सकते हो, बस इतना ही।' अतएव 'मैं समाज का सुधार करके, या अनेक जन-हितकर कार्य करके इस जगत् का उपकार करूँगा'—यह हमारा भ्रान्त अभिमान है। भगवान् ने हमें इस संसार में आने का सुअवसर दिया है, जिससे हम कर्म करते हुए स्वयं को धन्य बना लें, और यह कर्म हमें सेवा के भाव से करना होगा, दया के भाव से नहीं। तभी तो स्वामीजी ने कहा था—दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव। सर्वत्र वे ही हैं। उनकी

सेवा करो—जहाँ जैसी आवश्यकता हो वहाँ उसी प्रकार से। यही समझना होगा कि जहाँ जैसी आवश्यकता है, वहाँ भगवान् हमारी पूजा उसी रूप में ग्रहण करने लिए विराज रहे हैं। भक्तिशास्त्र में जहाँ भी पूजा की बात कही गयी है, वहाँ इसी भाव से कही गयी है। जैसे गौ की पूजा करनी है तो उसे सिंहासन पर बिठाकर नहीं करनी होगी, नहीं तो वह बड़े बखेड़े की बात हो जायगी। केवल मनुष्य ही नहीं, बल्कि सर्वत्र सब जीवों में, जहाँ जिस रूप में आवश्यकता हो, उसी प्रकार पूजा करनी होगी—भक्ति का भाव लेकर, सेवा का भाव लेकर। और इस प्रकार से कर्म करने पर फिर हम चाहे कुछ भी क्यों न करें, सब उनकी ही पूजा, उनकी ही आराधना हो उठेगा। ○

भक्ति के द्वारा इन्द्रियाँ अपने आप वश में आ जाती हैं, बड़ी सरलता से उनका संयम हो जाता है। ईश्वर के प्रति प्रेम जितना अधिक बढ़ेगा, शरीर-सुख भोगने की इच्छा उतनी ही घटती जाएगी। जिस दिन घर में सन्तान की मृत्यु हो जाती है, उस दिन क्या पति-पत्नी का मन देह-सुख की ओर जा सकता है?

—श्रीरामकृष्ण

श्रीरामकृष्ण-महिमा (११)

अक्षय कुमार सेन

(लेखक भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्यों में अन्यतम थे। बँगला भाषा में रचित उनका 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' काव्य बंगभाषियों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने वार्तालाप के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव की अपूर्व महिमा का बड़ा ही सुन्दर प्रकाशन किया है। हिन्दी पाठकों के लाभार्थ मूल बँगला से रूपान्तरित किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में कार्यरत हैं। ——स०)

(गतांक से आगे)

पाठक——भगवान्, भगवान् केवल सुनने में ही आता है। और भी सुनता हूँ कि लोग भगवान्-लाभ करते हैं, उनके साथ बातें करते हैं, खेल करते हैं, यह सब भी सुना है। दूसरे कोई-कोई यह भी कहते हैं कि वे निराकार हैं, मन-बुद्धि से परे हैं। फिर योगीगण कहते हैं कि उन्हें योग के द्वारा प्राप्त किया जाता है। यदि यह सब हो तो भगवान् फिर क्या हुए ?

भक्त——तुम्हारा प्रश्न ही तुम्हारा उत्तर है। तुम उन्हें जो कहोगे, जैसा सोचोगे, वे ठीक वैसे ही हैं। मैंने ठाकुर से सुना है कि एक बड़े अनुरागी भक्त ने गुरु से उपाय पूछा ——"साधन-भजन किस प्रकार करूँ ?" गुरु ने पूछा—— "तुम्हें कौन-सी वस्तु बड़ी प्रिय है अर्थात् तुम्हें किससे बहुत प्यार है ?" शिष्य ने उत्तर दिया——"इस काले भैंस को मैं प्यार करता हूँ।" गुरु ने यह बात सुन शिष्य को आदेश दिया——"तुम इसी भैंस का ध्यान करो।" गुरुभक्त शिष्य ने वैसा ही करके भगवान् को भैंस के रूप में प्राप्त किया। फिर इधर मुनि, ऋषि, तपस्वी तथा योगीगण युग-युगान्तर से तपस्या, साधन-भजन तथा ध्यान में रत हैं। उन्होंने

भगवान् को अपने ध्यान और तपस्या के बल पर ऐसे विराट् रूप में देखा है कि वे उनकी महत्ता अथवा विशालता की सीमा तिल मात्र भी नहीं आँक पाये हैं। जो एक स्थान में अनन्त और असीम हैं, वे ही अन्य स्थान पर साकार रूप में अवस्थित हैं। वामन, वाराह आदि अवतारों की कथा सुनी है तो? कृष्णावतार में वे यशोदा के कान्हा थे, गोप-बालकों के सखा थे। रामरूप में उन्होंने विमाता के षड़यन्त्र पर वन को प्रस्थान किया। जो जीव के हृदय-कमल में बिन्दुरूप में अवस्थित हैं, वे ही सृष्टि के अधिष्ठाता हैं तथा उनके एक-एक रोमकूप में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड विराजमान हैं। रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्ध जिनके समीप नहीं पहुँच सकते, वे ही इन पाँच रूपों में परिणत हुए हैं तथा स्वयं ही इन पाँचों के भोक्ता हैं। जो वज्र से भी अधिक कठोर हैं, वे ही फिर प्रस्फुटित कमलदल की अपेक्षा कोमल हैं। जो जिस भाव से उन्हें देखता है तथा उनका चिन्तन करता है, वे उसके निकट ठीक वैसे ही हैं। इससे समझ लो कि भगवान् कैसे हैं।

पाठक—जो भगवान्-लाभ करते हैं, उनकी अवस्था कैसी होती है?

भक्त—उबले हुए आलू-बैंगन की जो अवस्था होती है, भगवान् का लाभ होने पर मनुष्य की वैसी ही अवस्था होती है। भगवान्-लाभ होने पर पशुभाव नहीं रह जाता। उसका स्वभाव भिन्न प्रकार का हो जाता है। उसमें मनुष्य की प्रवृत्तियाँ नहीं रह जातीं। मनुष्य अर्थात् बद्धजीव उसे देखकर पागल समझता है। इधर सभी लोग एक प्रकार के और उधर वह अकेला भिन्न प्रकार का। दस लोगों के साथ यदि एक का तुक न मिले तो वह एक व्यक्ति पागल

सिद्ध होगा। यह बात मैंने तुमसे बहुत पहले एक बार कही है। और उस एक व्यक्ति का ऐसे लोग बहुत कम ही आदर करते हैं। इन अल्प लोगों में जो आते हैं, वे भगवत्परायण साधक होते हैं। ये लोग भी ईश्वर को खोज रहे हैं, पर अभी उन्हें पाया नहीं है। लाखों साधकों में कोई एक ईश्वर का लाभ करता है। इसीलिए रामप्रसाद ने एक गीत में गाया है—'लाख पतंगों में कटती है कहीं एक, तब हँसकर माँ तुम बजाती हो ताली।' इससे समझ लो, मानव कितने हैं और अमानव कितने!

पाठक—बातचीत आत्मा के सम्बन्ध में हो रही थी। उसी विषय पर मेरा मन रमा हुआ है। अत: उसके सम्बन्ध में दो-चार बातें और पूछने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

पहली जिज्ञासा है—यदि जीवात्मा परमात्मा के सिवाय अन्य कुछ नहीं है तो फिर वह एक अद्वितीय परमात्मा इतने अगणित प्रकार के रूप-गुणवाले जीवात्माओं में परिणत कैसे हुआ?

भक्त—इस विषय में कोई सन्देह नहीं कि यह तत्त्व बड़ा ही कठिन, दुर्बोध्य और जटिल है। यह एक बड़ी पहेली है। तुमसे एक बार मैंने इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है, फिर से कहता हूँ, सुनो—बरसात के समय तुमने देखा होगा कि सरोवर के जल में असंख्य बुलबुले उठते हैं। अब विचार करो, ये बुलबुले क्या हैं, किस चीज से बने हैं तथा उनके भीतर कौन-सी वस्तु है। प्रत्यक्ष दर्शन और विचार का फल यह है कि बुलबुले पानी से बने हैं तथा उनके भीतर पानी ही है। ठीक उसी प्रकार जानना कि जीवात्मा परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं तथा परमात्मा ही उनके भीतर

विद्यमान हैं।

यहाँ पर यह बात अच्छी तरह समझ लो कि बुलबुले सरोवर के पानी से जन्मे मात्र हैं, किन्तु कोई बुलबुला सरोवर नहीं है। उसी प्रकार एक अद्वितीय मूलाधार परमात्मा से ये जो करोड़ों जीवात्मा हुए हैं, इनमें से कोई भी जीवात्मा वह परमात्मा नहीं है। तात्पर्य यह कि सरोवर और बुलबुलों के बीच जैसे अन्तर है, वैसे ही परमात्मा और जीवात्मा के बीच अन्तर है। सरोवर के बदले समुद्र कहना अधिक उचित होता, पर तुम्हें प्रत्यक्ष उपमा द्वारा समझाने के लिए सरोवर का दृष्टान्त दिया है। सागर जिस प्रकार सागर के रूप में अनादि अनन्तकाल से स्थित है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं घटता, उसी प्रकार परमात्मा, परमात्मा के रूप में अनादिकाल से, अपरिवर्तनशील रूप से अपने स्वरूप में विद्यमान है। सागर में जिस प्रकार तरंगें होती हैं, विश्व में जिस प्रकार जन्म, स्थिति और मरण का खेल चलता है, परमात्मा में उसी प्रकार परिवर्तनशील सृष्ट वस्तुओं की नित्य क्रीड़ा चलती है।

यहाँ पूछ सकते हो कि समुद्र में तो वर्षा का जल पड़ने से अगणित बुलबुलों का जन्म होता है, परन्तु यहाँ एक अद्वितीय परमात्मा को छोड़ जब अन्य किसी वस्तु की सत्ता नहीं, तब इस परिवर्तनशील जीव-जगत् की सृष्टि किस वस्तु के पड़ने से हुई? इसका उत्तर यह है कि वर्षा का जल तो और कुछ नहीं, समुद्र का ही जल है। इतने दिनों तक जो बादल के रूप में शून्य में अवस्थित था, वह अब पानी बनकर जिसका पानी था उसी में जा पड़ा तथा उसके फलस्वरूप तरंगों और बुलबुलों की सृष्टि हुई। यहाँ पर ठीक वही बात है—परमात्मा से शक्ति का उद्भव हुआ

और जब वही शक्ति परमात्मा से जा मिली, तो उसके फलस्वरूप जीव-जगत् की सृष्टि हुई। समुद्र के पानी और वर्षा के पानी में जैसे कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार परमात्मा और उसकी शक्ति में कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही हैं, परन्तु स्थान और भाव विशेष की दृष्टि से वे अलग-अलग नामों से जाने जाते हैं; जैसे—ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्, महामाया, काली, कृष्ण, राम, ईसा, अल्ला इत्यादि। अलग-अलग मत के लोग उन्हें अलग-अलग नामों से पुकारते हैं। भक्त अथवा साधक नाम तथा भाव की दृष्टि से भले अलग-अलग हों, किन्तु मूल में जाकर सभी आपस में मिल जाते हैं।

एक को छोड़ दूसरी कोई वस्तु नहीं है। वही एक लीला में अनेक हुआ है। अनेक उस एक में ही स्थित हैं तथा बाद में वे उस एक में ही लीन होंगे। सृष्टि की वस्तुएँ चिरकाल से हो रही हैं, वे कुछ दिन रहती हैं, फिर उस एक में ही लीन हो जाती हैं। सृष्टि की किसी वस्तु का नाश नहीं है। केवल बीच-बीच में उनके गुण, वर्ण, स्वरूप तथा लोक परिवर्तित होते रहते हैं। इसीलिए सृष्टि को परिवर्तनशील कहते हैं।

भगवान् की कृपा से जो लोग यह ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे जन्म अथवा मृत्यु पर प्रसन्न अथवा दुखी नहीं होते। यह ज्ञान ही संसार-सागर को पार करने का बेड़ा है। यह ज्ञान ही त्रिताप की ज्वाला का रक्षाकवच है। इस ज्ञान के प्रभाव से मनुष्य मुक्त होता है तथा सुख-दुःख दोनों के पार चला जाता है। यह ज्ञान होने पर जीव के भव-बन्धनों का नाश होता है और फिर उसका जन्म नहीं होता। इस अवस्था को ही ठाकुर पके घड़े की स्थिति कहते थे।

कच्ची स्थिति में घड़े के फूटने पर कुम्हार उसे फिर से गढ़ता है, परन्तु घड़ा यदि पकने के बाद फूटे तो फिर उसे गढ़ा नहीं जा सकता। उसी प्रकार यह ज्ञानाग्नि जीव को पकाकर ऐसी अवस्था में ले आती है कि देह-त्याग के बाद फिर उसका जन्म नहीं होता। इस स्थिति को प्राप्त हुए जीव की ठाकुर और एक उपमा देते थे और वह थी——उबले धान की। धान को आग में उबाल लेने पर जिस प्रकार उसमें फिर से अंकुरित होने की शक्ति नहीं होती, उसी प्रकार जो पुण्यवान् व्यक्ति ज्ञानाग्नि की उबाल पाते हैं, उनका फिर पुनर्जन्म नहीं होता। यहाँ तक कि यदि ज्ञानी स्वेच्छा से देह-त्याग भी करे तो भी आत्महत्या के फलस्वरूप हुआ महापाप उसका स्पर्श नहीं कर पाता।

एक वस्तु किस तरह इतने विभिन्न प्रकार की हुई है, कैसे रक्त और वीर्य से हड्डी बनी है, यह तत्त्व केवल माँ-लीलाशक्ति ही जानती है। प्रत्येक वस्तु में उसी एक वस्तु की सत्ता है, जो शक्ति के तारतम्य से छोटे, बड़े, कम अधिक रूपों में परिणत हुई है। जहाँ अधिक शक्ति है, वहाँ अधिक विकास है, जहाँ कम शक्ति है, वहाँ कम विकास है।

यहाँ पर एक बड़ी पहेली है, और वह यह कि जहाँ अधिक शक्ति का विकास है, वहाँ जिस प्रकार अनन्त और असीम शक्ति है, उसी प्रकार जहाँ शक्ति कम विकसित है, वहाँ भी वही अनन्त और असीम शक्ति है। जिधर जाओगे उधर ही मूलशक्ति की भाँति अनन्त अपार है। जैसा बड़ा है, वैसा ही छोटा। अखण्ड में खण्ड नहीं होता। लीला में खण्ड भले ही दिखायी दे, किन्तु वह खण्ड भी अखण्डस्वरूप, अनन्त और असीम है। इसीलिए ठाकुर

श्रीरामकृष्ण कहते थे, "तू न तो भगवान् के क्षुद्र भाव को ले सकता है और न महत् भाव को ही ।"

पाठक—लीलाशक्ति के प्रभाव से जहाँ परमात्मा खण्ड-खण्ड हुआ है, वहाँ पर फिर परमात्मा अखण्ड कैसे हुआ ?

भक्त—ठाकुर कहते थे कि पिचकारी के भीतर जैसे पिचकारी की लकड़ी रहती है, ठीक उसी प्रकार परमात्मा निर्लिप्तभाव से विद्यमान है । इस अवस्था में उस अखण्ड परमात्मा का कार्य नहीं होता । वह केवल साक्षीस्वरूप रहता है तथा अंशरूप जीवात्मा सुख-दुःख का भोग करता है ।

पाठक—आपके अनुसार परमात्मा ही मूल वस्तु है तथा वह परमात्मा ही प्रकृति के अनगिनत आकारों और रूपों में जीवात्मा के रूप में परिणत हुआ है, तब फिर मन, बुद्धि इत्यादि ये सब क्या हैं ?

भक्त—परमात्मा ने अपने स्वयं के रस तथा सृष्टि के रस का आस्वादन करने के लिए मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि समस्त यन्त्र दिये हैं । ये सब जीवात्मा के रसभोग हेतु यन्त्रस्वरूप हैं ।

जीवात्मा में माया के रहने के फलस्वरूप, जीवात्मा परमात्मा से पृथक् हो गया है । इसलिए जीवात्मा जान नहीं पाता कि वह वही वस्तु है । जीवात्मा माया को लेकर 'मैं' 'मैं' की रट लगाये हुए है । और इधर परमात्मा रूप-रस की वस्तुएँ उसकी आँखों के सामने रखकर उनके ही भीतर छिपा हुआ है । जीवात्मा ने मौज के रस से भरी दुनिया पायी है और फिर उन रसों का आस्वादन करने के लिए उसने आवश्यक यन्त्रों को भी प्राप्त किया है । अब भला उस परमात्मा को कौन पाये ? यह जीवात्मा तो इस

संसार को ही सुख का कारण समझकर खेल रहा है। परन्तु सृष्टिकर्ता सृष्टि का त्याग कर कहीं गया नहीं है। यदि कोई यथासमय उसका आभास पाता है तो वह उस सृष्टि-कर्ता परमात्मा को इन्हीं यन्त्रों की सहायता से पकड़ लेता है। यन्त्रों का ऐसा गुण है कि उन्हें जिधर चलाओगे, वे उधर ही ले जाएँगे। यदि रूप-रस में लगाओगे, तो वे रूप-रस ही दिखाएँगे और फिर यदि परमात्मा में लगाओगे, तो परमात्मा ही दिखला देंगे। पर एक बात है, रूप-रस में एक बार मुग्ध होने पर उन यन्त्रों को दूसरी ओर ले जाना कठिन है। एक चीज ध्यान में रखो—जीवात्मा माया के चक्कर में सोचते हैं कि वे अलग-अलग हैं, स्वाधीन हैं। परन्तु ऐसी बात नहीं। सभी के मुँह की लगाम उसी मालिक के हाथ में है। वे जब इच्छा करेंगे, तब अपने भण्डार में और जो जो यन्त्र हैं, उन यन्त्रों की सहायता से रूप-रस में मत्त मन आदि यन्त्रों की गति को लौटा देंगे। उन सब यन्त्रों के नाम हैं—विवेक, वैराग्य, ज्ञान और भक्ति। जिन मन, बुद्धि ने जीवात्मा को लाकर इस संसार-भँवर में डुबोया है, वे ही फिर इसका उद्धार कर देंगे। अतः अब समझ लो कि मन, बुद्धि जीवात्मा में किस प्रकार स्थित हैं तथा वे क्या हैं। (क्रमशः)

मानस-रोग (४/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर सब मिलाकर ४६ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख उनके चौथे प्रवचन का उत्तरार्ध है। इस प्रवचनमाला की सात किस्तें 'विवेक-ज्योति' के पिछले सात अंकों में प्रकाशित हो चुकी हैं। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। —स.)

प्रश्न उठता है कि भगवान् श्री राघवेन्द्र चित्रकूट को छोड़कर दण्डकारण्य में क्यों आते हैं? वहाँ तो उनके दिन बड़े आनन्द में ही बीत रहे थे। फिर सीताजी भी चित्रकूट में इतनी सुखी थीं कि गोस्वामीजी लिखते हैं—

सिय मनु राम चरन अनुरागा।
अवध सहस सम बनु प्रिय लागा।। २/१३९/४

—'सीताजी का मन श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में अनुरक्त है, इससे उनको वन हजारों अवध के समान प्रिय लगता है।' तो, जब चित्रकूट में सब प्रकार से सबको आनन्द ही आनन्द था, तब तो यही उचित होता कि भगवान् राम चौदह बरस वहीं रह जाते और वनवास का काल समाप्त होने पर अयोध्या लौटकर सिंहासन पर बैठ जाते। फिर, महाराज श्री दशरथ ने यह तो नहीं कहा था कि किस वन में रहना है। उन्होंने केवल वन में रहने की बात कही थी। तब भी भगवान् श्रीराम चित्रकूट के आनन्द को छोड़कर दण्डकारण्य चले जाते हैं। क्यों? चित्रकूट का वातावरण तो अत्यन्त पवित्र है, वहाँ मुनियों का सत्संग प्राप्त है,

कोल-भीलों का निश्छल प्रेम मिलता रहता है। फिर इसी चित्रकूट में श्री भरत का आगमन होता है और भगवान् राम से उनका मिलन होता है। तब दण्डकारण्य जाने की आवश्यकता क्यों पड़ी ? आप देखेंगे चित्रकूट का प्रसंग अयोध्याकाण्ड के अन्त में है, पर वह वहीं समाप्त नहीं होता। अरण्यकाण्ड के प्रारम्भ में भी हम उसका प्रसंग पाते हैं। अरण्यकाण्ड का प्रारम्भ एक घटना से होता है। भगवान् राम वन में जाकर पुष्प चुनकर लाते हैं और उनके गहने बनाते हैं तथा उन गहनों से सीताजी का शृंगार करते हैं। केवल शृंगार ही नहीं करते, वे स्फटिक शिला पर सीताजी के बैठने के लिए पत्तों और फूलों के द्वारा आसन भी बनाते हैं और सीताजी का शृंगार कर उन्हें उस पर बैठने का अनुरोध करते हैं। अरण्यकाण्ड के प्रारम्भ में गोस्वामीजी लिखते हैं--

> एक बार चुनि कुसुम सुहाए।
> निज कर भूषन राम बनाए।।
> सीतहि पहिराए प्रभु सादर।
> बैठे फटिक सिला पर सुंदर।। ३/०/३-४

प्रश्न जागता है कि क्या गोस्वामीजी ने यह प्रसंग शृंगार के लिए चुना है ? यदि उन्होंने इतना लिखकर प्रसंग को समाप्त कर दिया होता कि भगवान् राम ने सीताजी का शृंगार किया, तो यह सीताजी के प्रति श्रीराम के राग का परिचायक होता। पर प्रसंग यहीं समाप्त नहीं होता। गोस्वामीजी कहते हैं कि जब भगवान् राम इस प्रकार सीताजी का शृंगार करके बैठे हुए थे तो स्वर्ग से इन्द्र का पुत्र जयन्त यह सुनकर कि पृथ्वी में ईश्वर का अवतार हुआ है, चित्रकूट में उनके दर्शन के लिए

पहुँचता है। पर वहाँ आकर उसने ईश्वर को जो कुछ करते देखा,उससे उसके अन्तःकरण में ईश्वर के ईश्वरत्व पर श्रद्धा तो हुई नहीं बल्कि उसे लगा कि यह तो स्वर्ग का नित्यप्रति का दृश्य है। देवतागण अप्सराओं का शृंगार करते ही हैं। क्या यही ईश्वर है, जो फूलों के गहने बनाकर अपनी प्रिया का शृंगार कर रहा है? यह कैसा ईश्वर है, जो वनवासी-तपस्वी बनकर चौदह वर्षों के लिए वन में आया है और यहाँ शृंगार-लीला में लिप्त है? इससे बढ़कर विडम्बना क्या होगी? और तब, जयन्त को इतना बुरा लगता है कि वह कौए के रूप में आकर सीताजी के चरणों में चोंच से प्रहार करता है। गोस्वामीजी ने लिखा—

सीता चरन चोंच हति भागा।
मूढ़ मंदमति कारन कागा।। ३/०/७

—वह मूढ़ मन्दबुद्धिवाला कौआ सीताजी के चरणों में चोंच मारकर भागा। पर सीताजी इसकी शिकायत भगवान् राम से नहीं करतीं। प्रभु को इसका पता तब लगा, जब—

चला रुधिर रघुनायक जाना। ३/०/८

—सीताजी के चरणों से रक्त बह निकला। सीताजी हैं मूर्तिमान् भक्ति। गाँव की स्त्रियों ने भगवान् राम का परिचय सीताजी के माध्यम से प्राप्त किया था। जयन्त भी चाहता तो वह भगवान् राम के सम्बन्ध में अपनी भ्रान्ति भक्तिदेवी के माध्यम से दूर कर भगवान् के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकता था। पर वह तो, जैसा गोस्वामीजी कहते हैं, मन्दमति था। बुद्धिहीन होने के कारण वह सीताजी के चरणों पर प्रहार करता है। पर सीताजी इसके बारे में भगवान् राम से कुछ नहीं कहतीं, क्योंकि भक्ति का स्वभाव ही नहीं कि वह दूसरे को दण्ड देने की प्रेरणा दे।

वे तो करुणा की प्रेरणा देती हैं। पर भगवान् राम को दिखायी देता है कि किसे दण्ड देना है। रामायण में संकेत आता है कि किसका रक्त बहना चाहिए और किसका नहीं। जब हनुमान्‌जी ने लंकिनी को मुक्के से मारा तो उसके मुँह से रक्त गिरा। और जब जयन्त ने सीताजी के चरणों पर प्रहार किया तो उनके चरणों से रक्त निकला। इसका अभिप्राय क्या हुआ ? एक रक्त ऐसा है, जिसका बहना कल्याणकारी है और एक रक्त वह है, जिसका बहना महान् अकल्याणकारी है। एक रक्त वह है जो शरीर में रहता है। फिर रक्त का दूसरा अर्थ भी है। आप लोगों ने महात्माओं की प्रशंसा में सुना होगा कि अमुक महात्मा बड़े विरक्त हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि उनमें रक्त बिल्कुल नहीं होता और बिना खून के ही उनका शरीर चलता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शरीर में रक्त होता है, उसी प्रकार मन में भी राग का रक्त बहता है। तो, जिस व्यक्ति के मन का राग शिथिल हो गया है, उसे विरक्त कहते हैं। गोस्वामीजी लंकिनी को मूर्तिमान् प्रवृत्ति मानते हैं और सीताजी हैं मूर्तिमान् भक्ति। हनुमान्‌जी लंकिनी पर प्रहार करते हैं ताकि लंकिनी के मुँह से रक्त निकले। तात्पर्य यह कि सत्संग के माध्यम से संसार के प्रति हमारा राग शिथिल हो। ऐसे राग के घटने में कल्याण है। पर जो सीताजी के चरणों में प्रहार कर रक्त निकालता है, वह अक्षम्य है।

जब गोस्वामीजी बूढ़े हो गये, तब शिष्यों ने कहा, "महाराज, अब तो आपको कम सुनायी देने लगा है, आँखों से भी कम देख पाते हैं, इसलिए कोई वैद्य ले आते हैं जो आपको देखकर दवाई दे।" गोस्वामीजी ने कहा, "वैद्य तो

में भी खोज रहा हूँ और चाहता भी हूँ कि वह मुझे दवाई भी दे। पर वह मेरे आँख-कान की जाँच न करे।"

——तो क्या करे?

गोस्वामीजी बोले ('दोहावली', ५६३)——

श्रवन घटहुँ पुनि दृग घटहुँ घटउ सकल बल देह।

——कानों से कम सुनाई पड़ना, आँखों की रोशनी घट जाना यह तो शरीर का स्वभाव है, वैद्य को यह नहीं देखना है, उसे तो देखना है कि——

इते घटें घटिहै कहा जौं न घटै हरिनेह।।

——कहीं भगवान् के प्रति मेरा प्रेम तो कम नहीं हो रहा है? यदि उसमें कमी आ रही हो तो मुझे ऐसा वैद्य चाहिए, जो दवा देकर उस प्रेम को बढ़ा दे।

भरतजी के सन्दर्भ में कहा गया कि वे दुबले हो रहे हैं। किसी ने गोस्वामीजी से पूछा कि उनका दुबला होना उन्नति का लक्षण है अथवा अवनति का। गोस्वामीजी ने कहा कि वे एक ओर दुबले हो रहे हैं तो दूसरी ओर मोटे। शरीर की दृष्टि से दुबले हो रहे हैं, पर——

नित नव राम प्रेम पनु पीना।
बढ़त धरम दलु मनु न मलीना।। २/३२४/२

——राम-प्रेम के प्रति प्रण की दृष्टि से वे मोटे हो रहे हैं अर्थात् राम-प्रेम का प्रण नित्य नया और पुष्ट हो रहा है, धर्म का दल बढ़ रहा है और मन प्रसन्न है। तात्पर्य यह कि जीवन की सार्थकता इसमें है कि भगवान् के प्रति भक्ति बढ़े। पर जो भक्तिदेवी के चरणों में प्रहार करता है, वह तो अक्षम्य है। भगवान् राघवेन्द्र भक्तिदेवी का रंचमात्र भी रक्त बहता हुआ नहीं देख सकते। इसीलिए वे जयन्त को दण्ड देते हैं और साथ ही संकल्प लेते हैं कि जब चित्रकूट-

जैसी पुण्यभूमि में स्वर्ग से आये इन्द्र के पुत्र जयन्त-जैसे व्यक्ति के मन में मेरे चरित्र को देखकर भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी, तो मुझे इस स्थल का परित्याग कर भिन्न भूमि में प्रवेश करना चाहिए, जहाँ मैं जीवन का विकृतियों और दुर्गुणों का जो दूसरा पक्ष है, उसे प्रकट कर सकूँ। भगवान् चाहते तो चित्रकूट में रहकर दिव्य रस में चौदह वर्ष बिता अयोध्या लौट जाते, पर वे जीवन के द्वितीय पक्ष को प्रकट करने दण्यकारण्य जाने का निर्णय लेते हैं। चित्रकूट की भूमि जितनी पवित्र थी, दण्डकारण्य की भूमि उतनी ही अपवित्र। अतः जब लक्ष्मण वन में कन्द-मूल-फल लेने जाते हैं, तो भगवान् राम सीताजी से कहते हैं, "सीते, चित्रकूट की भूमिका अब समाप्त होती है। चित्रकूट में तुमने और मैंने जिस दिव्य सुख का, भक्ति और भगवान् के मिलन की परिपूर्णता का अनुभव किया, वह पक्ष समाज के सामने रखा। लेकिन उस पक्ष में भी जिसकी दृष्टि में पवित्रता नहीं थी, अन्तःकरण में वासना थी, उसमें भ्रान्ति उत्पन्न हुई। अब जीवन की विकृति और विसंगतियों का जो दूसरा पक्ष है, उसकी भूमिका तुम्हें भी स्वीकारनी होगी और मुझे भी। इसीलिए भगवान् राम अरण्यकाण्ड में न तो अपने ईश्वरत्व को प्रकट करते हैं, न ही अपने गुणों को। उनके मन में यह बात आती है कि जब रागी व्यक्तियों के मन में मेरे शृंगार को देखकर इस प्रकार की वृत्ति उत्पन्न हुई, तो जो वनवासी मुनि हैं, उनके अन्तर्मन में मेरे चरित्र का क्या प्रभाव पड़ा होगा। इस सम्बन्ध में गोस्वामीजी व्यंग्य करते हुए एक मीठी चुटकी लेते हैं। वे कहते हैं कि जब भगवान् राम की वनयात्रा प्रारम्भ हुई, तो दण्डकारण्य के मुनि बड़े प्रसन्न हुए। वे 'कवितावली' (अयोध्याकाण्ड,

२८) में लिखते हैं—

बिंधि के बासी उदासी तपी,
व्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतमतीय तरी 'तुलसी'
सो कथा सुनि भे मुनिबृंद सुखारे ।।

—विन्ध्य पर्वत पर रहनेवाले व्रतधारी उदासी और तपस्वी लोग बिना स्त्री के दुखी थे। उन्होंने भगवान् राम के चरणस्पर्श द्वारा गौतम की पत्नी अहिल्या के तरने की बात सुनी थी। वे सब प्रसन्न हो भगवान् से बोले—

ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखीं
परसें पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायकजू !
करुना करि कानन को पगु धारे ।।

—प्रभो, आपने बड़ा अच्छा किया जो आप वन को आ गये। यहाँ तो वन में चारों ओर पत्थर ही पत्थर हैं। वे सब आपके चरणस्पर्श से चन्द्रमुखी हो जाएँगे !

अतः भगवान् सोचते हैं कि यदि मेरे आचरण के द्वारा लोगों के मन में शृंगार की उत्पत्ति हुई हो तो अब ऐसी लीला कर दूँ जिससे जिनके मन में शृंगार के प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ हो, वे भी विरागी हो जायँ और भूलकर भी न सोचें कि हमें जीवन में इस लीला को स्वीकार करना चाहिए। भगवान् राम सीताजी से कहते हैं कि इस लीला में मैं काम की भूमिका स्वीकारता हूँ और तुम लोभ की भूमिका स्वीकार लो। वैसे भगवान् राम का काम से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे तो पूर्णकाम हैं। और सीताजी में भी लोभ का कोई प्रश्न नहीं, वे तो साक्षात् लक्ष्मी हैं। जो अयोध्या और जनकपुर के वैभव को छोड़

वन में चली आयीं तथा दशरथजी के रोकने पर भी जिनके मन में कोई आकर्षण उत्पन्न नहीं हुआ, वे सोने के मृग को देखकर उसे पाने के लिए व्यग्र हो उठी हों, यह बात तर्कसंगत नहीं मालूम होती। इसके द्वारा तो वे मानवीय लीला का निर्वाह करती हैं। जब लक्ष्मणजी वन में गये थे, तब भगवान् राम ने सीताजी से कहा—

सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला।
मैं कछु करबि ललित नर लीला॥ ३/२३/१

—'हे प्रिये, पातिव्रत धर्म का पालन करनेवाली सुशीले! सुनो, मैं अब कुछ मानवीय लीला करूँगा।' भगवान् श्रीराम उनसे दो कार्य करने की बात कहते हैं—एक रूप में तो तुम अग्नि में निवास करो और दूसरे रूप में मेरे पास रहकर जो भूमिका मैंने बतायी है उसका निर्वाह करो।

आपको संकेत कर दूं कि यह दण्डकारण्य मनोभूमि है और चित्रकूट है चित्त की भूमि। दण्डकवन में भगवान् राम मन की दुर्बलताओं को, विकृतियों को तथा समाज में उसके दुष्परिणामों को प्रकट करने के लिए एक नाटक करते हैं। इसका अभिप्राय क्या? यही कि भगवान् राम का चरित्र यहाँ पर अनुकरणीय नहीं है बल्कि यह हमें सावधान करनेवाला है। मन के जो विविध दोष हैं और उन दोषों से उत्पन्न होनेवाली जो विकृतियाँ हैं, उन्हें ही प्रकट करने के लिए भगवान् राम दण्डकारण्य की इस अपवित्र भूमि में प्रवेश करते हैं। वहाँ वे जीवन के दो पक्ष प्रकट करते हैं—एक पक्ष तब, जब शूर्पणखा आती है और दूसरा तब, जब मारीच आता है। दोनों नकली वेश बनाकर आते हैं तथा दोनों ही जीवन के बहुत बड़े प्रलोभन हैं—शूर्पणखा के रूप में कामिनी और स्वर्णमृग के रूप में

कांचन। दोनों लंका से आते हैं। पहले सौन्दर्य का आकर्षण आया, उसके बाद स्वर्णमृग का प्रलोभन। भगवान् श्री-राघवेन्द्र दोनों पक्षों का अन्तर बताते हैं। पहले पक्ष में यह बताते हैं कि कैसी मनःस्थिति होने पर चाहे कामिनी का प्रलोभन हो अथवा काँचन का, उस पर विजय प्राप्त की जा सकती है और दूसरे पक्ष द्वारा यह प्रकट करते हैं कि किन परिस्थितियों में व्यक्ति इन दुर्गुणों से पराजित हो दुःख भोगता है। तो, पहला पक्ष यह कि शूर्पणखा आती है और भगवान् के सामने विवाह का प्रस्ताव रखती है, कहती है--

> मम अनुरूप पुरुष जग माहीं।
> देखेउँ खोजि लोक तिहु नाहीं।।
> तातें अब लगि रहिउँ कुमारी।
> मनु माना कछु तुम्हहि निहारी।। ३/१६/९-१०

—'मेरे अनुरूप पुरुष जगत् भर में नहीं है, मैंने तीनों लोकों को खोज देखा, इसी से अब तक कुमारी रही। अब तुमको देख कुछ चित्त ठहरा है।' अब इससे बचने का उपाय क्या? —वही जो भगवान् राम ने किया। शूर्पणखा आयी है लंका से और लंका साक्षात् देहनगर है। श्रीराम ने शूर्पणखा की बात सुन किसकी ओर देखा?—'सीतहि चितइ'—सीताजी की ओर। अर्थात् जब देह का आकर्षण सामने आये तो वैदेही की ओर दृष्टि डालें। सीताजी वैदेही हैं और शूर्पणखा मूर्तिमान् देहवाद की प्रतीक है। तो, जब देह का आकर्षण सामने आया तो वैदेही की ओर देखा और देखने के साथ-साथ शूर्पणखा को कहाँ भेजा?–

> सीतहि चितइ कही प्रभु बाता।
> अहइ कुआर मोर लघु भ्राता।। ३/१६/११

—लक्ष्मणजी के पास। कहा, तुम्हें जाना हो तो लक्ष्मण के पास जाओ। इसका आध्यात्मिक तात्पर्य क्या ? आकर्षण से बचने के दो माध्यम हैं—भक्ति और वैराग्य। श्री सीता मूर्तिमती भक्ति हैं और श्री लक्ष्मण मूर्तिमान् वैराग्य। भगवान् राम ने भक्ति की ओर देखा और वासना को वैराग्य के पास भेज दिया। और लक्ष्मण क्या करते हैं ? जब शूर्पणखा ने जाकर कहा कि तुम्हारे भाई ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है, तुम मुझसे विवाह कर लो, तो लक्ष्मणजी ने बचने की दूसरी कला का प्रयोग किया। भगवान् राम ने सीताजी की ओर देखा था और लक्ष्मणजी ने ?—

गइ लछिमन रिपु भगिनी जानी।
प्रभु बिलोकि बोले मृदु बानी॥ ३/१६/१२

—उन्होंने बात तो शूर्पणखा से की, उसके प्रश्नों का उत्तर भी दिया, पर देखते रहे प्रभु की ओर। इसका अर्थ है कि यदि भक्ति की ओर देखते रहें तो वासना का आकर्षण व्यक्ति को विचलित नहीं कर सकता। अथवा यदि भगवान् के सौन्दर्य और भगवान् के चरणों में दृष्टि बँधी रहे तो वासना मनुष्य को विचलित नहीं कर सकती। इस प्रकार कामिनी के आकर्षण पर विजय पायी जा सकती है। पर यह समझना भूल होगी कि एक बार काम पर विजय प्राप्त कर लेने से, प्रलोभनों को जीत लेने से फिर कोई भय नहीं रह जाता हो। शूर्पणखा अकेली नहीं है। वह निराश होकर चुप नहीं बैठती। उसके पास अगणित साधन हैं, जिनके माध्यम से वह बदला लेने की चेष्टा करती है। वह जाती है खर, दूषण और त्रिशरा के पास और उनके चौदह हजार सैनिकों को राम के विरुद्ध प्रेरित करती है। खर, दूषण और त्रिशरा चौदह हजार सैनिकों को लेकर आते हैं और

भगवान् राम चौदह हजार सैनिकों सहित तीनों का नाश कर देते हैं। अर्थात् उन्होंने समस्त दुर्गुणों का नाश कर दिया। पर यहाँ भी एक क्रम है। जब चौदह हजार सेना लेकर ये तीनों आये, तो भगवान् राम ने लक्ष्मण से कहा—

ले जानकिहि जाहु गिरि कंदर।
आवा निसिचर कटकु भयंकर।।
रहेहु सजग सुनि प्रभु कै बानी। ३/१७/११

—'लक्ष्मण, राक्षसों की भयानक सेना आ गयी है। जानकी-जी को लेकर तुम पर्वत की कन्दरा में चले जाओ। सावधान रहकर सीताजी की रक्षा करना।' यहाँ पर सीताजी की रक्षा का अभिप्राय क्या? यह कि यदि जीवन में वैराग्य है तो भक्ति सुरक्षित है। भक्ति का पक्ष विश्वास का है और विश्वास बिना वैराग्य के नहीं टिकता। तात्पर्य यह कि जब भक्ति वैराग्य के द्वारा सुरक्षित होती है तब सारे दुर्गुण-दुर्विचार पराजित हो जाते हैं। तो क्या अब कोई समस्या नहीं रही? एक बार यदि कोई व्यक्ति रोग पर विजय प्राप्त कर ले तो क्या उसके रुग्ण होने की सम्भावना नहीं है? है, इसीलिए भगवान् राम जीवन के उस दूसरे पक्ष को प्रकट करते हैं। खर-दूषण के नाश के पश्चात् शूर्पणखा निराश हो रावण के पास जाती है और उसे श्रीराम के विरुद्ध उकसाती है। रावण स्वर्णमृग लेकर, कांचन का प्रलोभन लेकर आता है। पहले ही भगवान् राम ने सीताजी से लोभ की भूमिका स्वीकारने के लिए कहा था और वे स्वयं काम की भूमिका को स्वीकारने वाले थे। सीताजी की दृष्टि स्वर्णमृग पर पड़ती है—

सीता परम रुचिर मृग देखा। ३/२६/३

—शूर्पणखा की ओर न तो भगवान् राम ने देखा था और

न लक्ष्मणजी ने। पर सीताजी स्वर्णमग की ओर देखती हैं और भगवान् राम से कहती हैं——

सुनहु देव रघुबीर कृपाला।
एहि मृग कर अति सुंदर छाला॥
सत्यसंध प्रभु बधि कर एही।
आनहु चर्म कहति बैदेही॥ ३/२६/४-५

—'हे देव! कृपालु रघुवीर! सुनिए। इस मृग की छाल बहुत ही सुन्दर है। इसको मारकर इसका चमड़ा ला दीजिए।' अब श्री राघवेन्द्र इस बात को सुनकर सीताजी से कह सकते थे कि यह मृग नकली है। और यदि ऐसा कहना नहीं चाहते थे तो वहीं से बैठे-बैठे मृग पर बाण चला उसे मार सकते थे। पर वे कमर में फेंटा कसकर मृग के पीछे भाग चले। क्यों? इसलिए कि उन्होंने कामी की भूमिका स्वीकार की थी। और इसलिए वे——

कामिन्ह कै दीनता देखाई। ३/३८/२

——'कामी लोगों की दीनता दिखलाते हैं।' वे प्रिया की इच्छा पूर्ण करने चल पडे। उन्हें दिखायी नहीं पड़ा कि मृग असली है या नकली। क्यों? गोस्वामीजी कहते हैं—

मदन अंध व्याकुल सब लोगा। १/८४/५

——जब जीवन में काम आता है तो आँखें मुंद जाती हैं, असली-नकली कुछ दिखायी नहीं पड़ता।

प्रसंग आता है कि शूर्पणखा जिस समय लक्ष्मणजी के पास गयी तो उन्होंने बातों में उसे सुन्दरी कह दिया—

सुंदरि सुनु मैं उन्ह कर दासा। ३/१६/१३

—यह तो उन्होंने व्यंग्य में कहा था, पर शूर्पणखा को उससे सन्तोष और असन्तोष दोनों एक साथ हुए। सन्तोष इसलिए कि बड़े भाई ने एक बार भी उसके सौन्दर्य की

प्रशंसा नहीं की, पर छोटे ने एक बार सुन्दरी तो कहा। और असन्तोष इसलिए कि यह सुन्दरी कह तो रहा है, पर एक बार भी मेरी ओर नहीं देख रहा है, इसकी दृष्टि है राम की ओर। उधर लक्ष्मणजी का तात्पर्य यह था कि जब तक मैं तुम्हें नहीं देख रहा हूँ, तभी तक तुम सुन्दरी हो। जब देख दूँगा तब तो तुम्हारी सुन्दरता रह ही नहीं जायगी। इसका अभिप्राय यह कि जो कामान्ध है, उसकी दृष्टि में तुम सुन्दर हो सकती हो, पर यथार्थ नेत्रवाले के समक्ष तुम्हारी सुन्दरता नहीं टिकेगी। यथार्थ नेत्र कौन से ?--

ग्यान बिराग नयन उरगारी। ७/११९/१४

--ज्ञान और वैराग्य ही यथार्थ नेत्र हैं। जब तक वैराग्य की दृष्टि नहीं पड़ी है, तभी तक तुम्हारा सौन्दर्य है। वैराग्य की दृष्टि पड़ते ही तुम्हारे सौन्दर्य की कृत्रिमता प्रकट हुए बिना नहीं रहेगी।

तो, भगवान् राम लोकशिक्षा के लिए अपने जीवन में दुर्गुण को स्वीकार करते हैं। इसीलिए जब वे सीताजी के साथ राक्षसों के नाश की भावी योजना बना रहे थे, उन्होंने लक्ष्मणजी को अपने पास से हटा दिया था, क्योंकि उन्हें मालूम था कि लक्ष्मण इसे बिल्कुल पसन्द नहीं करेंगे, वे तो कहेंगे कि महाराज, इसके लिए इतनी बड़ी योजना की क्या आवश्यकता ? मैं ही सब राक्षसों को मारे देता हूँ। और लक्ष्मणजी ऐसा करने में समर्थ हैं। उनके बारे में तो भगवान् राम ने कहा ही है—

जग महुँ सखा निसाचर जेते।
लछिमनु हनइ निमिष महुँ तेते।। ५/४३/७

—'जगत् में जितने भी राक्षस हैं, लक्ष्मण क्षणभर में उन सबको मार सकते हैं।' मन में फिर प्रश्न जागता है कि

जब ऐसी बात थी, तो भगवान् राम केवल लक्ष्मणजी को लेकर ही लंका पर आक्रमण कर सकते थे। तब उन्होंने वानरों की सेना एकत्रित क्यों की ? इसका भी एक तात्पर्य है। ये वानर कौन हैं। गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' (५८/८) में लिखते हैं—

कैवल्य साधन अखिल भालु मर्कट विपुल

—'ये सब भालू-वानर मोक्ष के साधन हैं।' तात्पर्य यह कि ईश्वर सर्वसमर्थ होते हुए भी साधनों का आश्रय ले लंका पर विजय प्राप्त करता है। इसके माध्यम से वह दिखाना चाहता है कि कहीं भगवत्कृपा का आश्रय लेकर साधक के जीवन में निष्क्रियता न आ जाय। इसीलिए समाज के सन्मुख साधना का पक्ष रखने के लिए वह जीवन में त्रुटियों को स्वीकार करता है।

जैसे रोगी दो प्रकार के होते हैं; एक तो वह है, जो स्वयं रोग से ग्रस्त है और दूसरा वह चिकित्सक है,जो रोग की ओषधि का पता लगाने के लिए स्वयं अपने शरीर में उस रोग के कीटाणुओं को प्रविष्ट कराकर रोगी बन जाता है—यहदेखने के लिए कि शरीर पर उन कीटाणुओं की क्या प्रतिक्रिया होती है और उसकी ओषधि क्या होगी ? तो, अब जो व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक अपने शरीर में रोग की सृष्टि करके दवा देना चाहता है, वह कितना सहृदय और उदार न होगा। बस, यही उत्कृष्टतम भूमिका भगवान् राम की है। वे रागी और शृंगारी की भूमिका को स्वीकार करते हैं, अपनी प्रिया की इच्छा पूर्ण करने, बिना विचार किये मायावी स्वर्णमृग के पीछे दौड़ पड़ते हैं और फलस्वरूप सीताजी को खो बैठते हैं। और तब साधारण व्यक्ति की नाईं विरह में रुदन करने लगते हैं। अब जिनके मन में

भगवान् की पूर्व लीला देखकर विवाह की इच्छा हो आयी थी और जो सोच रहे थे कि——

ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखी
परसे पद मंजुल कंज तिहारे

——उन्हें मानो भगवान् ने सन्देश दिया कि हमारी दशा को देखकर समझ लो कि जब हमें इतना रोना पड़ रहा है तो तुम्हें कितना रोना न पड़ेगा। भगवान् राघवेन्द्र उनके मन में वैराग्य की सृष्टि करने के लिए इस प्रकार की लीला करते हैं। वे अपने दोषों को स्वीकारते हैं और अपनी दुर्बलता पर व्यंग्य करते हैं। इसके माध्यम से वे मानो साधक को बतलाते हैं कि दूसरों के दोष देखना सरल है, पर सच्चा साधक वही है जो अपने दोष देखे।

जब भगवान् राम लक्ष्मणजी के साथ सीताजी को खोजते हुए चल रहे थे, तो मृगों का एक झुण्ड आया। मृग का स्वभाव है कि वह भागते-भागते रुकता है, रुककर मुड़कर देखता है और फिर भागता है। मृग भगवान् राम के सामने से भागते हुए आये और रुककर, मुड़कर उनकी ओर देखा और फिर भागने लगे। भगवान् राम ने लक्ष्मण से पूछा, "लक्ष्मण, ये मृग मुझे देखकर क्यों भाग रहे हैं?" लक्ष्मणजी ने कहा, "प्रभो, यह तो उनका स्वभाव है।"

"नहीं, तुम्हें याद होगा चित्रकूट में वे लोग मुझे देखकर तो नहीं भागते थे, रुककर खड़े हो जाते थे।"

'गीतावली रामायण' (अरण्यकाण्ड, २/५) में गोस्वामीजी लिखते हैं कि चित्रकूट में भगवान् राम जब धनुष-बाण लेकर चले, तो मृग उनकी सुन्दरता को देखकर इतना मुग्ध हो गया कि बस खड़ा हो उनकी ओर निहारने लगा। श्रीराम भी उसकी ओर इतने प्रेम से देखने लगे

कि अब कौन उस पर बाण चलावे। थोड़ा-सा प्रेम ही प्रभु को वशीभूत कर लेता है —

तुलसिदास प्रभु बान न मोचत
सहज सुभाय प्रेमबस थोरे।

तो, भगवान् राम कहते हैं, "लक्ष्मण, वह अहिंसा की वृत्ति का परिणाम था। जब तक मेरे मन में अहिंसा की वृत्ति थी, तब तक पशु भी मेरी प्रीति को पहिचानते थे, पर जब से मैंने एक मृग पर बाण का प्रहार किया है, मुझ पर से मृगों का विश्वास उठ गया है। अब मुझे देखकर वे लोग रुकते नहीं, भागते हैं।"

लक्ष्मणजी ने कहा, "महाराज, ये केवल भाग ही नहीं रहे हैं, रुक भी तो रहे हैं।"

"ये स्वयं नहीं रुक रहे हैं। ये अपनी पत्नियों के कहने से रुके हैं। ये लोग तो भाग रहे थे—

हमहि देखि मृग निकट पराहीं। ३/३६/५

—कह रहे थे, भागो रे भागो! ये मृगों को मारनेवाल आ गये। पर इनकी पत्नियाँ बुद्धिमती हैं। वे बोलीं, डरने की बात नहीं; ये मृगों को मारने नहीं आये—

तुम्ह आनंद करहु मृग जाए।
कंचन मृग खोजत ए आए॥ ३/३६/६

—तुम लोग तो साधारण हिरणों से उत्पन्न हुए हो, अतः तुम लोग आनन्द मनाओ। ये तो सोने का हिरण खोजने आये हैं। ऐसे बुद्धिमान हैं ये! लक्ष्मण, ये मृगियाँ मेरी बुद्धिहीनता पर हँसी उड़ा रही हैं। स्वर्णमृग जो असम्भव वस्तु है, को पाने के लिए मैंने सीता को खो दिया।" अभिप्राय यह कि भगवान् राम वासना, प्रलोभन और काम का जो दुष्परिणाम है, उसे प्रकट करने के लिए रुदन कर

रहे हैं। सब कुछ उल्टा-सा प्रतीत हो रहा है। कहाँ तो लक्ष्मणजी भगवान् राम से कहते थे—

मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा।
सब तजि करौं चरन रज सेवा।। ३/१३/७

—'देव, मुझे समझाकर वही कहिए, जिससे सब छोड़कर मैं आपकी चरणरज की ही सेवा करूँ,' और कहाँ आज जब भगवान् राम विलाप कर रहे हैं, लता-वृक्षों से सीताजी का पता पूछ रहे हैं तो लक्ष्मणजी ही उन्हें नाना प्रकार से समझा रहे हैं—'लछिमन समुझाए बहु भाँती' (३/२९/८)। सारा क्रम उलट गया है। जीव को भगवान् को समझाना पड़ रहा है।

जब मारीच ने मरते समय लक्ष्मणजी का नाम लेकर पुकारा था, तब सीताजी ने व्यग्र हो लक्ष्मणजी से कहा था—

जाहु बेगि संकट अति भ्राता। ३/२७/३

—'शीघ्र जाओ, तुम्हारे भाई पर संकट आया है।' इस सुन लक्ष्मण जोरों से हँसे थे—'लछिमन बिहँसि. . .'। उन्हें हँसते देख सीताजी को क्रोध आ गया कि मैं भगवान राम पर संकट की बात कह रही हूँ और यह हँस रहा है! लक्ष्मणजी को हँसी यह सोचकर आयी कि आज तक शास्त्रों में मैंने पढ़ा, सत्संगों में सुना कि जब जीव पर संकट आवे तो वह ईश्वर को पुकारे, पर ईश्वर पर संकट आवे और जीव उसकी रक्षा के लिए जाय इससे बढ़कर आश्चर्य की बात तो सुनी नहीं। तात्पर्य यह कि सारा क्रम ही उलट जाता है।

भगवान् राम ऐसी भूमिका स्वीकार कर सीताजी के विरह में व्याकुल हो एक वृक्ष ने नीचे बैठे थे कि उसी

समय वहाँ नारद आ गये। भगवान् को विरही के रूप में देखकर उन्होंने पूछ दिया——

तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा ।
प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा ।। ३/४२/३

——'प्रभु, तब मैं विवाह करना चाहता था; पर आपने किस कारण से मुझे विवाह करने नहीं दिया?' इस पर भगवान् राम नारद से काम के दोषों का वर्णन करते हुए कहते हैं——

सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता ।
मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता ।।
जप तप नेम जलाश्रय झारी ।
होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी ।।
काम क्रोध मद मत्सर भेका ।
इन्हहि हरषप्रद बरषा एका ।।
दुर्बासना कुमुद समुदाई ।
तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदायी ।।
धर्म सकल सरसीरुह बृंदा ।
होइ हिम तिन्हहि दहइ सुख मंदा ।।
पुनि ममता जवास बहुताई ।
पलुहइ नारि सिसिर ऋतु पाई ।।
पाप उलूक निकर सुखकारी ।
नारि निबिड़ रजनी अँधिआरी ।।
बुधि बल सील सत्य सब मीना ।
बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना ।। ३/४३/१-८

——'हे मुनि, सुनो, पुराण, वेद और सन्त कहते हैं कि मोह-रूपी वन को विकसित करने के लिए स्त्री वसन्तऋतु के समान है। जप, तप, नियमरूपी समस्त जल के स्थानों

को स्त्री ग्रीष्मरूप होकर सर्वथा सोख लेती है। काम, क्रोध, मद और मत्सर आदि मेंढक हैं। इनको वर्षाऋतु होकर हर्ष प्रदान करनेवाली एकमात्र स्त्री ही है। बुरी वासनाएँ कुमुदों के समूह हैं। उनको सदैव सुख देनेवाली यह शरद ऋतु है। समस्त धर्म कमलों के झुण्ड हैं। यह विषयजन्य नीच सुख देनेवाली स्त्री हिमऋतु होकर उन्हें जला डालती है। फिर ममतारूपी जवास का वन स्त्रीरूप शिशिरऋतु को पाकर हरा-भरा हो जाता है। पापरूपी उल्लुओं के समूह के लिए यह स्त्री सुख देनेवाली घोर अन्धकारमयी रात्रि है। बुद्धि, बल, शील और सत्य—ये सब मछलियाँ हैं, उनको फँसाने के लिए स्त्री बंसी के समान है, चतुर पुरुष ऐसा कहते हैं।'

यह सब सुनकर लगता है कि नारीजाति की बड़ी निन्दा की गयी है। आज की जो स्वतन्त्रचेता महिलाएँ हैं, उन्हें इन पंक्तियों को पढ़कर बड़ा क्रोध आता है। पर इस निन्दा के सन्दर्भ को यदि देखें तो लगेगा कि भगवान् राम ने नारद की मीठी चुटकी ली है। इसके माध्यम से वे बता देते हैं कि उन्होंने क्यों नारद का विवाह नहीं होने दिया और शंकरजी का विवाह क्यों करवाया, साथ ही यह भी कि उनकी वर्तमान दशा का कारण क्या है और उन्हें क्यों इस प्रकार व्याकुल हो रोते हुए वन में भटकना पड़ रहा है। भगवान् राम ने नारद से ये जो वाक्य कहे उसका तात्पर्य सारी नारीजाति की निन्दा नहीं है। वे तो मानो नारद के सम्मुख दर्पण रख देते हैं और कहते हैं—यह देखो, मेरी यह दशा तो विवाह के बाद हुई है, पर तुममें तो उपर्युक्त सारे लक्षण विवाह की योजना बनाते ही आ गये थे। तुमने तो तब केवल विश्वमोहिनी को देखा ही

था। उसकी हस्तरेखा देखते ही तुममें काम-वात प्रबल हो गया।

आयुर्वेदशास्त्र का मत है कि जब काम-वात आता है, तो अस्सी प्रकार की विकृतियाँ आ जाती हैं। इसका सर्वश्रेष्ठ प्रमाण नारद का चरित्र है। उनके बारे में कहा जाता है कि वे बड़े सत्यवादी थे—'नारद बचन सदा सुठि साचा' (१/२३५/८)। वे कभी झूठ नहीं बोलते थे। पर जब उन्होंने विश्वमोहिनी की हस्तरेखा देखी और पाया कि हाथ में बड़े ही चामत्कारिक फल लिखे हुए हैं, तो उन्होंने जितने लक्षण देखे थे सब अपने हृदय में रख लिये और राजा से कुछ अपनी ओर से बनाकर कह दिया—

लच्छन सब बिचारि उर राखे।
कछुक बनाइ भूप सन भाषे।। १/१३०/५

—उन्हें लगा अगर ये लक्षण राजा को बता देता हूँ तो पता नहीं वह किससे इसका विवाह कर दे। इसका विवाह तो मुझसे ही होना चाहिए। इसलिए राजा से केवल यह कहकर कि 'सुता सुलच्छन' नारद चल पड़े थे।

यहाँ पर भगवान् श्रीराम नारद से कह रहे हैं—

जप तप नेम जलाश्रय झारी।
होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी।। ३/४३/२

—'स्त्री के कारण जप, तप, नियम सब छूट जाते हैं।' पर यह आवश्यक नहीं है। ऐसे बहुत से लोग हैं जो विवाहित हैं तथा जप, तप, नियम का पालन करते हैं। भगवान् का आक्षेप ऐसे लोगों पर नहीं था, वह तो नारद के लिए था। जब नारद राजा के पास से चले तो कुछ समय बाद उनके जप करने का, साधना का समय हो गया। पर वे तुरन्त निर्णय लेते हैं—

जप तप कछु न होइ तेहि काला ।
हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला ।। १/१३०/८

—'इस समय जप-तप से कुछ नहीं हो सकता । हे विधाता ! मुझे यह कन्या किस तरह मिले ?'

भगवान् का तात्पर्य था कि नारद, जब विवाह के संकल्प मात्र से तुममें इतनी विकृति आ गयी तो सोचो, अगर मैं तुम्हारा विवाह करा देता तो तुम्हारी क्या दशा होती ? तुम जो कहते हो कि मैंने शंकरजी का विवाह क्यों करवाया और तुम्हारा क्यों नहीं, तो तुममें और शंकरजी में अन्तर है—शंकर मेरे बड़े बेटे हैं और तुम छोटे बेटे हो । अगर घर में बड़ा बेटा विवाह करने से पीछे हटे, तो माता-पिता उस पर विवाह करने के लिए जोर डालते हैं, पर यदि छोटा बालक विवाह करने का हठ करे, तो माता-पिता उसका विवाह थोड़े ही करते हैं । शंकर तो मेरे बड़े पुत्र थे । वे विवाह करना नहीं चाहते थे । पर फिर भी लोककल्याण के लिए मैंने उन्हें विवाह करने के लिए बाध्य किया । पर तुम मेरे छोटे बच्चे हो, विवाह तुम्हारे हित में नहीं था, इसीलिए मैंने नहीं करवाया । भगवान् फिर विनोद में कहते हैं, "नारद, छोटा बच्चा जैसे किसी का विवाह होते देखकर मचलता है, कहता है मैं भी विवाह करूँगा और यदि उससे पूछा जाय कि किससे विवाह करोगे, तो वह पड़ोस की किसी कन्या का नाम ले देता है जिससे बड़े होने पर विवाह की बात सोचकर ही संकोच हो—वह तो जानता नहीं किससे विवाह होता है और किससे नहीं—तो नारद, तुम्हारी भी वही अवस्था थी । तुम्हारे मन में विवाह करने की इच्छा भी आयी तो किससे? तुमने तो मेरी माया से ही विवाह करने का प्रस्ताव

कर दिया। तभी मैं समझ गया तुममें शिशुवृत्ति है।"

भगवान् राम काम की तुलना सर्प से और क्रोध की अग्नि से करते हुए कहते हैं—

गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई।
तहँ राखइ जननी अरगाई।। ३/४२/६

—'नारद, छोटा बच्चा जब दौड़कर आग और साँप को पकड़ने जाता है, तो माता उसे अलग करके बचा लेती है।' भगवान् राम का तात्पर्य था कि काम है सर्प और उस सर्प को यदि शंकर धारण करें तो यह उनके चरित्र के अनुरूप हो सकता है, पर शंकरजी को गले में साँप लटकाये हुए देखकर एक शिशु अपनी माँ से कहने लगे कि हम भी साँप को गले में लटकाएँगे तो उसकी माँ क्या उसे वैसा करने देगी? उसी प्रकार यदि बच्चा आग में हाथ डालने लगे तो माँ उसकी उँगलियों को बचाने के लिए अपनी उँगलियों को आग में डाल देती है। अपनी उँगली जलाकर वह बच्चे की उँगलियाँ बचा लेती है। इस पर अगर बच्चा कहने लगे कि तुम मुझे बचाने की चेष्टा तो कर रही थीं, पर खुद इतनी असावधान हो कि अपनी उँगलियाँ जला डालीं, तो यह उसकी नासमझी होगी। जब नारद ने भगवान् से कहा कि आपने मेरा विवाह तो होने नहीं दिया और स्वयं रो रहे हैं, तो भगवान् बोले—नारद, तुम्हें बचाने में ही मेरी उँगलियाँ जली हैं। तुमने ही तो शाप दिया था—

मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी।
नारि बिरहँ तुम्ह होब दुखारी।। १/१३६/८

—'तुमने (विवाह न होने देकर) मेरा बड़ा अहित किया है, इससे तुम भी स्त्री के वियोग में दुखी होगे।' अतएव, नारद, तुम मुझे धन्यवाद दो कि तुम्हारी विकृति की रक्षा

के लिए मैंने जीवन में इस विकृति को स्वीकार किया है। मैंने जी में यही जानकर तुमको विवाह करने से रोका था—

ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जियँ जानि ।। ३/४४

इस प्रकार भगवान् राम स्वयं अपने चरित्र के माध्यम से और उपदेशों से यह प्रकट कर देते हैं कि मनुष्य के अन्तःकरण की वासना किस प्रकार दुर्गुणों की सृष्टि करती है। ○

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) हरि को जो सुमिरन करे

केरल के सुप्रसिद्ध सन्तकवि गोपालम् श्रीकृष्ण के परम भक्त थे। वे अपना अधिकाधिक समय इष्टदेवता के पूजा-पाठ और मनन-चिन्तन में लगाया करते। यह देख लोग उनकी हँसी उड़ाया करते। एक बार गोपालम् ने अपने कुछ मित्रों को भोजन का निमंत्रण दिया। जब सारे मित्र आ चुके, तो उनमें से एक ने गोपालम् से कहा, "हम सब तो आ चुके, तुम्हारे सखा कृष्ण कब आएँगे? यदि उन्हें जल्दी बुला सको, तो बुला लो। इससे हमें भोजन के बाद जल्दी घर जाने में सुविधा होगी।" अन्य मित्रों ने भी श्रीकृष्ण को जल्दी बुलाने पर जोर दिया।

बेचारे गोपालम् पसोपेश में पड़ गये। वे जानते थे कि मित्रों का यह आग्रह बनावटी है और इस बहाने वे उनकी हँसी उड़ाना चाहते हैं, मगर मजबूर थे। आखिर मन ही मन उन्होंने दयानिधान से प्रार्थना की कि वे संकट में पड़ गये हैं और प्रभु ही उनकी रक्षा कर सकते हैं।

इतने में मित्रों को दूर से शंख की ध्वनि पास आती सुनायी दी। थोड़ी ही देर में वह ध्वनि लुप्त हो गयी और मित्रों ने महसूस किया कि कोई अदृश्य व्यक्ति वहाँ आया हुआ है, पर उनके चर्मचक्षुओं को वह दिखायी नहीं दे रहा है। मगर भक्तशिरोमणि गोपालम् के मुख पर तो प्रसन्नता की आभा टपक रही थी। वे भक्तवत्सल भगवान् कृष्ण की मनमोहक छबि को देख सुध-बुध खो बठे और जल्दी ही उनका स्तुति-गान भी करने लगे। मित्रों ने जान लिया कि निश्चय ही श्रीकृष्णदेव वहाँ विराजमान हुए हैं। उनका दर्शन न होते देख उन्हें दुःख हुआ। उन्होंने गोपालम् से

क्षमा माँगी, मगर वे इष्टदेवता के भजन-गान में तल्लीन थे। उनके ये भक्तिगीत 'आनन्दवृत्तम्' में संगृहीत हैं। भजन समाप्त होने पर गोपालम् ने मित्रों के भोजन की व्यवस्था की और पूजागृह में एक थाली अपने इष्टदेवता की लगायी। भोजनोपरान्त मित्रों ने देखा कि थाली में एक भी व्यंजन नहीं है और कोई भोजन कर चुका है। उन्होंने फिर कभी सन्त गोपालम् की भगवद्भक्ति की हँसी न उड़ायी।

(२) लोभ पाप का मूल है

अपने भवन के सामने वृक्ष के नीचे एक तेजस्वी युवक को विश्राम करते देख गृहस्वामिनी ने दासी को भेजकर उसे ऊपर बुला लिया। परिचय पूछने पर युवक ने कहा, "मुझे चन्द्रशेखर कहते हैं।" गृहस्वामिनी के लिए यह नाम नया नहीं था, क्योंकि उन दिनों उनकी विद्वत्ता की दुन्दुभि महाराष्ट्र में गूंज रही थी। उनके मुख पर उदासी देख गृहस्वामिनी ने प्रश्न किया, "आपके मुख पर उदासी छायी हुई है। क्या आप इसका कारण बता सकते हैं?"

"हाँ, बात यह है," याजक ने कहा, "एक शास्त्रार्थ में मुझे पराजित होना पड़ा है और मैंने निश्चय किया है कि जब तक पूछे गये प्रश्न का उत्तर मालूम नहीं होता, मैं घर नहीं जाऊँगा।"

"क्या मैं वह प्रश्न जान सकती हूँ?"—गृहस्वामिनी ने पुनः प्रश्न किया।

"हाँ, वह प्रश्न है—पाप की जड़ क्या है?"

"यह कोई कठिन प्रश्न नहीं है। इसका उत्तर मैं आपको फिर कभी दूंगी, लेकिन आपको मेरे यहाँ भोजन करना पड़ेगा।"

"मगर मैं स्वपाकी ब्राह्मण हूँ और अपने हाथ का ही भोजन खाता हूँ।"

"यदि आप इस दासी को भोजन कराने का मौका दें, तो मैं स्वयं को कृतार्थ समझूँगी।"

याजक ने जब कोई जवाब नहीं दिया, तो युवती बोली, "इसके अलावा मैं आपको प्रतिदिन दस स्वर्णमुद्राएँ भी दूँगी।" स्वर्णमुद्राओं के लोभ को वे संवरण न कर सके और उन्होंने स्वीकृति दे दी।

"मगर आपको यहाँ ही रहना होगा।"—युवती ने उनके समक्ष एक और शर्त रख दी और वे इसे भी अस्वीकार न कर सके।

याजक चन्द्रशेखर गृहस्वामिनी के आदर-सत्कार से बड़े प्रसन्न थे। उन्हें भोजन में प्रतिदिन नये-नये पकवान मिलते। वह सुन्दरी उन्हें पंखा झलती और मधुर स्वर में भोजन कराती। उनके मनोरंजन हेतु वारांगनाओं के नृत्य-गान का आयोजन भी होता। याजक को सुन्दरी की रूप-सम्पदा का भी आकर्षण होने लगा था। उन्होंने महसूस किया कि जब तक वे उससे प्रणय-निवेदन नहीं करेंगे, तब तक उन्हें सुख-शान्ति प्राप्त नहीं होगी। मगर संकोचवश वे कुछ कह नहीं पाते थे।

एक दिन उन्होंने हिम्मत कर अपने मन की व्यथा उसके समक्ष कह ही डाली। तब युवती ने कहा, "महाराज, आपके प्रश्न का उत्तर बताने का समय आ गया है।" उसने आगे कहा, "महाराज, पाप की जड़ लोभ है। स्वर्णमुद्राओं के लोभ के कारण ही स्वपाकी व्रत वाले आप सरीखे विद्वान् पुरुष ने यहाँ भोजन करना स्वीकार किया। फिर इस लोभ के ही वशीभूत हो आप अपनी पत्नी को छोड़कर

एक वारांगना के यहाँ स्थायी रूप से वास करने की इच्छा कर रहे हैं।"

याजक को उत्तर तो मिल गया था, लेकिन पतन के मार्ग पर अग्रसर होने की प्रतीति भी हो गयी थी। उन्होंने युवती से क्षमा माँगी और चुपचाप अपने घर की ओर रवाना हो गये।

(३) जो तोको काँटा बुवै

एक बार स्वामी दयानन्दजी के पास एक ब्राह्मण आया और उनके चरणों पर पैर रखकर उसने उनके समक्ष पान पेश किया। स्वामीजी ने उसे स्वाभाविक रूप से खाना शुरू किया, लेकिन जब उन्हें उसका स्वाद कड़ुवा लगा, तो उन्होंने जान लिया कि इसमें जहर डला हुआ है। उन्होंने ब्राह्मण से कुछ न कहा और बाहर जाकर पान को थूक दिया और वमन करके वे गंगा की ओर चल दिये। बाद में नहा-धोकर वे अपने आसन पर आ विराजे।

यह बात छिपी न रह सकी और जब यह उनके एक मुस्लिम भक्त तहसीलदार को मालूम हुई, तो उसने ब्राह्मण को पकड़कर कारागार में डाल दिया। फिर स्वामीजी को बताने के लिए वह उनके पास आया, तो स्वामीजी ने उसकी ओर देखा तक नहीं और अपने काम में व्यस्त हो गये। यह देख तहसीलदार को आश्चर्य हुआ और उसने नाराजगी का कारण पूछा। तब स्वामीजी ने कहा, "मुझे अभी-अभी पता चला है कि तुमने मेरे कारण एक ब्राह्मण को कैद में डाल दिया है। मगर तुम यह भूल गये कि मैं यहाँ बद्ध करने के लिए नहीं, बल्कि मुक्त करने के लिए आया हूँ, इसलिए तुमने यह जो काम किया, वह मेरे उसूलों के खिलाफ किया है और इसे मैं कैसे बर्दाश्त कर सकता

हूँ ?" यह सुन तहसीलदार खामोश रह गया, क्योंकि वह तो ब्राह्मण को कैद किये जाने की खुशखबरी सुनाने के इरादे से आया था और उस बाबत स्वामीजी ने नाराजगी जाहिर कर दी थी। उसने स्वामीजी से माफी माँगी और ब्राह्मण को रिहा करने का वचन दिया।

(४) मेरा मुझमें कुछ नहीं

महर्षि चरक ओषधियों की खोज में शिष्यों के साथ तड़के ही निकल पड़ते। एक दिन एक खेत में उन्हें एक विचित्र प्रकार का फूल दिखाई दिया। वे फूल तोड़ने के लिए आगे बढ़े ही थे कि मेंड़ के पास जाकर ठिठक गये। एक शिष्य ने पूछा, "आप रुक क्यों गये? फूल तोड़ने में कोई हर्ज नहीं है।" महर्षि ने कहा, "नहीं, हमें कोई भी चीज उसके मालिक की आज्ञा के बिना नहीं लेनी चाहिए। यदि हम खेत के मालिक से पूछे बिना यह फूल तोड़ें, तो यह जुर्म होगा।"

"मगर आपको तो राजाज्ञा मिली हुई है कि जहाँ भी, जो भी वनस्पति मिले, आप शोध के लिए निस्संकोच तोड़ सकते हैं। इसलिए यह फूल तोड़ने के लिए खेत के मालिक की आज्ञा लेना आवश्यक नहीं"—शिष्य ने अपना मत व्यक्त किया।

"तुम्हारा कहना ठीक है," महर्षि ने कहा, "मगर राजाज्ञा के आधार पर यदि भूस्वामी की उपेक्षा करें, तो यह नैतिक अपराध होगा, और फिर इसमें हमारा आदर्श कहाँ रहा?" और वे एक योजन चलकर किसान के घर गये। उसकी स्वीकृति लेकर ही उन्होंने वह फूल तोडा।

०

श्रीरामकृष्ण के दिव्य दर्शन (४)

ब्राह्मणी के निर्देशानुसार साधना

स्वामी योगेशानन्द

(विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी, शिकागो, अमेरिका)

(लेखक ने श्रीरामकृष्ण के जीवन में घटे दिव्य अनुभवों का संकलन कर 'वेदान्त केसरी' अंग्रेजी मासिक में धारावाहिक रूप से ब्रह्मचारी बुद्धचैतन्य के नाम से प्रकाशित किया था। उसी लेखमाला को रामकृष्ण मठ, मद्रास ने The Visions of Sri Ramakrishna के नाम से ग्रन्थाकार में प्रकाशित किया है, जिसकी अनुमति से यह हिन्दी अनुवाद पाठकों के लाभार्थ प्रकाशित किया जा रहा है। अनुवादक हैं ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, नागपुर में कार्यरत हैं।—स०)

१८६१ में श्रीरामकृष्ण ने दक्षिणेश्वर लौटने के बाद एक बार पुनः कालीमन्दिर के पुजारी का उत्तरदायित्व सँभालने का प्रयास किया। शीघ्र ही माँ के लिए पागलपन ने उन्हें आ घेरा और इस बार उसने उनके जीवन की जड़ें ही हिलाकर रख दीं। एक दिन भवतारिणी की पूजा में बैठने पर उन्हें दर्शन हुआ कि जगदम्बा उनके अन्दर ही विराजमान हैं और उन्होंने मूर्ति की जगह अपने ही शरीर की पूजा कर डाली। मन्दिर के कर्मचारीगण इस पर काफी उद्विग्न हो गये थे।[1] कभी-कभी ठाकुर जब अपनी पहचान के किसी व्यक्ति के भीतर से ईश्वर को झाँकते हुए देख पाते तो मन्दिर में बुलाकर उसे देवी का एक विशेष रूप मानकर उसकी पूजा करते। ठाकुर ने कहा था—"ओह, कैसी अवस्था बीती है! मैंने सुन्दरी की पूजा की, चौदह वर्ष की लड़की थी। देखा साक्षात्

---

१. 'लीलाप्रसंग', भाग.२, द्वितीय सं., पृष्ठ १५६-५७।

जगदम्बा !"[2] कम से कम एक व्यक्ति के बारे में अवश्य ही मालूम है, जो ठाकुर की ऐसी क्रिया के द्वारा समाधि में चला गया था।

पहले के ही समान मां ने उनके साथ पुनः लुका-छिपी का खेल खेलना शुरू कर दिया। कभी-कभी वे उनके समक्ष अचिन्त्य रूप में प्रकट हुआ करतीं। "एक दिन मैं काली मन्दिर में आसन पर बैठकर माँ का चिन्तन कर रहा था, किन्तु किसी भी तरह माँ की मूर्ति में अपने मन को केन्द्रित न कर सका। तदनन्तर क्या देखता हूँ कि रमणी नामक वेश्या, जो प्रतिदिन घाट पर नहाने आती थी, का रूप धारण कर पूजा के घट के बगल से माँ झाँक रही हैं। देखकर मैं हँसने लगा और कह उठा, 'अच्छा, आज रमणी बनने की तेरी इच्छा हुई है--ठीक है, आज इसी रूप से पूजन स्वीकार कर।' इस तरह उसने मुझे समझा दिया कि 'वेश्या भी मैं ही हूँ—मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं है,"[3] एक दिन मन्दिर के उद्यान में बकुल के नीचे एक महिला नीले वस्त्र (जिसे भारत में सम्मोहक माना जाता है) पहने खड़ी थी। पर उसे देखते ही श्रीरामकृष्ण के मन में एकदम सीता की उद्दीपना हो आयी। उस वेश्या का रूप वहाँ से बिल्कुल लुप्त हो गया और उन्होंने देखा कि साक्षात् सीतादेवी ही लंका से उद्धार पाकर श्रीराम से मिलने चली जा रही हैं। वे कहते हैं कि इस दर्शन के बाद काफी देर तक वे समाधि में डूबकर इस जगत् से अचेत बने रहे।[4] ठाकुर के इस दर्शन का एक विशिष्ट आयाम है, जो सरसरी निगाह से

२. 'वचनामृत', भाग.१, तृतीय सं., पृष्ठ ३१९।
३. 'लीलाप्रसंग', भाग २, द्वितीय सं., पृष्ठ ३८०।
४. 'वचनामृत', भाग १, तृतीय सं., पृष्ठ ३२०।

दृष्टिगोचर नहीं होता। पतित लोगों के भीतर दिव्यता श्रीरामकृष्ण के जीवन में विरल नहीं है, पर यहाँ पर तो उस अद्भुत रसायन के द्वारा, जो उनकी विशिष्ट सम्पत्ति है, नारी मात्र की कामभावना का पूर्णरूपेण रूपान्तरण कर उसे सीताजी की श्रीराम के लिए प्रेमभरी प्रतीक्षा में इस प्रकार परिणत कर दिया गया है कि वह पहचान में नहीं आती। सीताजी की यह जो प्रेम-अभिलाषा है, उसे एक साध्वी पत्नी के भीतर पाये जानेवाले उस शुद्ध भाव के रूप में देखा गया है, जो इन्द्रियपरता से रहित तथा नितान्त निःस्वार्थ है।

सम्भवतः इसी काल में या इसके बाद श्रीरामकृष्ण को कलकत्ते के मैदान में हवाखोरी अथवा बैलून का उड़ना दिखाने को ले जाया गया था। उन्होंने दोनों ही उद्देश्यों का उल्लेख किया है। वहाँ बड़ी भीड़ थी। वे कहते हैं, "अचानक एक अंग्रेज बालक की ओर दृष्टि गयी, वह पेड़ के सहारे त्रिभंग होकर खड़ा था। श्रीकृष्ण की उद्दीपना हो समाधि हो गयी।" यद्यपि वहाँ बताया नहीं गया है, पर सम्भवतः वे बैलून का उठना न देख सके थे। उनका स्वयं का मन ही उठ चुका था और श्रीकृष्ण के दर्शन के बीच इन चीजों की ओर भला किसका ध्यान जाता? प्रसिद्ध त्रिभंगी मूर्ति में भगवान् कृष्ण बाँसुरी बजाते हुए खड़े हैं तथा उनकी गर्दन, कमर तथा घुटने वक्र अवस्था में हैं।

जगदम्बा मानो अपने गदाधर के बाल पकड़कर आध्यात्मिक अनुभूति के उच्च शिखरों पर खींचे लिये जा रही थीं। रात-दिन वे एक न एक दर्शन में डूबे ही रहते

५. वही, भाग १, तृतीय सं., पृष्ठ. ३२० ; भाग.२, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ. ३२९।

थे। अतः यह हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि जिन सबका उन्होंने दूसरों के समक्ष वर्णन किया, वे नमूने मात्र थे। अपने शिष्यों को उन्होंने बताया था कि साधना की अवधि में उनके भीतर जो शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तन आये थे, उनका यदि एक-चौथाई भी किसी साधारण जीव में आ जाय, तो वह जीवित न रह सकेगा। उन्होंने कहा था कि वे निरन्तर दर्शनों में डूबे रहने के कारण ही देह-रक्षा कर सके थे। छः वर्षों तक न तो वे सोये और न उनकी पलकें ही झपकीं। जब उनका ध्यान अपने शरीर की विचित्र हालत की ओर जाता, तो कभी-कभी वे चिन्ता में रो देते, परन्तु माँ सर्वदा ही उन्हें सान्त्वना प्रदान कर उनके मन को समाधि में डुबो दिया करती थीं।

कभी-कभी ये दर्शन उन्हीं से मिलते-जुलते उस युवा-संन्यासी के हुआ करते, जिसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। दूर स्थित देवी-देवताओं की मूर्ति के दर्शन करने की अथवा यहाँ-वहाँ कीर्तन सुनने की जब उनकी इच्छा होती, तब वह युवा-संन्यासी ज्योतिर्मय रूप लेकर उनकी देह से बाहर निकलता और ज्योतिर्मय मार्ग से उन स्थानों को जाता तथा कुछ काल आनन्द मनाने के पश्चात् पुनः उसी पथ से वापस आकर उनके शरीर में प्रविष्ट हो जाता। अब श्रीरामकृष्ण के लिए समय का ज्ञान बिल्कुल ही लुप्त हो गया और वे दिन तथा रात का भेद भी शायद ही जान पाते थे। उनका यज्ञोपवीत खो गया तथा बहुधा वे शरीर पर अपना अधोवस्त्र भी न रख पाते थे। उन्होंने बताया, "एक समय था, जब मैं कन्धे पर बाँस की लाठी रखकर

६. 'लीलाप्रसंग', भाग. १, द्वितीय सं., पृष्ठ. २५३-५४।

मन्दिर-प्रांगण में घूमता रहता था। फिर कभी एक कुत्ते पर बैठकर उसे अच्छी-अच्छी चीजें खिलाता और बची हुई चीजें स्वयं खा लिया करता। मैं तब जाति के बारे में सोच भी न सकता था और लोग भी मुझे पागल समझते थे।...पंचवटी में जड़ के समान बैठकर मैं बाह्य जगत् का ज्ञान पूरा-पूरा खो बैठता था। ठीक-ठीक देख-भाल के अभाव में मेरे सिर के बाल जटा बन चुके थे और उस पर बैठकर चिड़ियाँ पूजा में बिखरे चावल के दाने ढूंढ़ा करती थीं। कभी-कभी साँप मेरे शरीर के ऊपर से रेंगते हुए निकल जाया करते थे और न तो मैं और न साँप ही एक दूसरे को जान पाते थे।" एक दिन अधर सेन के घर पर वे अपने शिष्य 'म' तथा अन्य लोगों के समक्ष अपनी अनुभूतियों का वर्णन करते हुए कहने लगे, "सुनो, तुमसे बड़ी गूढ़ बात कहता हूँ। झाउओं के तले बैठे हुए देखा कि चोरखाने का-सा एक दरवाजा सामने है। कोठरी के अन्दर क्या है, यह तो मुझे मालूम नहीं पड़ा। मैं एक नहन्नी से छेद करने लगा, पर कर न सका। मैं छेदता रहा, पर वह बार बार भर जाता था। लेकिन पीछे से एक बार इतना बड़ा छेद बना!"[७] हमें नहीं पता कि इस अनुभूति का ठाकुर पर क्या प्रभाव पड़ा और न हम यही जानते हैं कि यहाँ पर माया के किस आवरण के भेदन का प्रतीकात्मक वर्णन किया गया है। परन्तु हम इतना अवश्य जानते हैं कि इस दर्शन का वर्णन करते हुए वे अचानक ही मौन हो गये थे। तत्पश्चात् उन्होंने श्रोताओं के समक्ष अपनी वह प्रसिद्ध उक्ति दुहरायी, जो उनके 'वचनामृत' के पाठक के लिए

७. 'वचनामृत', भाग. १, तृतीय सं., पृष्ठ ३८५।

अब तक काफी सुपरिचित हो गयी होगी—"ये सब बड़ी ऊँची बातें हैं। वह देखो, कोई मानो मेरा मुख दबा देता है।..." बाद में उन्होंने कहा था, "चित्तशुद्धि होने पर, विषय-भोग की आसक्ति दूर हो जाने पर व्याकुलता आएगी। तुम्हारी प्रार्थना ईश्वर के पास पहुँचेगी। टेलीग्राफ का तार टूटा रहने पर अथवा उसमें अन्य कोई दोष रहने पर तार का समाचार नहीं पहुँचेगा। मैं व्याकुल होकर एकान्त में रोता था। 'कहाँ हो, नारायण' कहकर रोता था। रोते रोते बाह्य ज्ञान लुप्त हो जाता था। मेरा मन महावायु में लीन हो जाता था।" [८]

इस विशिष्ट काल के अन्त में श्रीरामकृष्ण को शिव-मन्दिर में एक महत्त्वपूर्ण समाधि हुई थी। 'शिव-महिम्न स्तोत्र' के एक श्लोक का उच्चारण करते हुए वे इतने भावविभोर हो उठे कि उनकी अश्रुधारा से फर्श गीली हो गयी तथा हर्षातिरेक में उनके जोर से चिल्ला उठने पर मन्दिर के कर्मचारीगण वहाँ आ जुटे। सम्भवत: वे द्वादश शिव-मन्दिरों में पूजा करने को गये थे। अब तो शायद यह नहीं मालूम कि यह नाटकीय घटना उनमें से किस मन्दिर में हुई थी। काश! उस स्थान का ठीक-ठीक पता चल जाता। तथापि हमें उस प्रसिद्ध श्लोक का पता है, जिसने उनके भावप्रवण मन को उद्दीप्त कर ऊपर उठा दिया था—"यदि समुद्ररूपी पात्र में नीलगिरीरूपी स्याही घोली जाय, कल्पवृक्ष की सबसे बड़ी शाखा की लेखनी बनायी जाय, सम्पूर्ण पृथ्वी कागज हो और इन्हें लेकर यदि देवी सरस्वती आपकी महिमा

८. वही, भाग २, द्वितीय सं., पृष्ठ. ३-४।

अनन्त काल तक लिखती रहें, तो भी हे प्रभो, आपकी महिमा का छोर न मिलेगा।"* उस समय उनका मन निश्चय ही काफी ऊपर उठ गया होगा, परन्तु उस घटना की आन्तरिक बातों को ठाकुर ने थोड़ा सा भी व्यक्त नहीं।किया है इस घटना की पृष्ठभूमि 'श्रीरामकृष्णलीला-प्रसंग' ग्रन्थ में अंकित है।[१] बाह्य संज्ञा के लौटने पर उन्होंने अपनी विशिष्ट सरलता के साथ अपने विश्वस्त संरक्षक मथुरबाबू से पूछा था—"मैंने कोई अनुचित आचरण तो नहीं किया है?"

एक सामान्य-सी औपचारिक दीक्षा लेने के सिवाय, बिना अन्य किसी गुरु की सहायता लिये श्रीरामकृष्ण आध्यात्मिक साधना एवं अनुभूति के कँटीले रास्ते पर चले जा रहे थे। अब, सही मायने में, दक्षिणेश्वर के सन्त के जीवन में उनके प्रथम गुरु का आगमन हुआ। वे थीं योगेश्वरी नाम की एक ब्राह्मण महिला, जिनका वे 'भैरवी ब्राह्मणी' के नाम से उल्लेख किया करते थे। वे शास्त्रों में निष्णात थीं तथा उनमें बताये सत्य उनकी अनुभूति में उतरे हुए थे। वे उम्र में श्रीरामकृष्ण से बड़ी थीं। नारी-मात्र के प्रति श्रीरामकृष्ण का मातृभाव देख उन्होंने शीघ्र ही इस युवा साधक की माँ तथा गुरु की दोहरी भूमिका सँभाल ली। इधर श्रीरामकृष्ण ने भी अपने आपको उनके संरक्षण में छोड़ दिया।

---

* असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवर शाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा सारदा सर्वकालं।
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति।।३२।।

१. 'लीलाप्रसंग', भाग २, द्वितीय सं. पृष्ठ. १५७-५८।

उनके सम्बन्धों की शुरुआत के बारे में हम जिस घटना का वर्णन करने जा रहे हैं, वह अत्यन्त मार्मिक है तथा जो लोग आन्तरिक अनुभूति एवं बाह्य घटनाओं के बीच कुछ संगति ढूँढ़ते हैं, उनके मन में श्रद्धा जगानेवाली भी है। भैरवी ब्राह्मणी ने अपनी नित्य की पूजा-परिपाटी के अनुसार अपने इष्टदेव को सुबह का भोग देने के लिए पंचवटी के नीचे एक स्थान को सुबह का भोग तैयार करने के लिए नियत किया था। वे हर समय अपने गले से रघुवीर शिला लटकाये रखतीं। पूजा के समय उसे निकालकर अपने इष्ट के प्रतीक के रूप में सामने स्थापित कर लेतीं। दक्षिणेश्वर में अपने पहले दिन जब वे अपने इष्टदेव को पकाया हुआ भोजन निवेदित करते हुए ध्यान करने लगीं, तो उन्हें गहरा ध्यान लग गया, जिसमें उन्हें एक दर्शन हुआ और वे समाधि में डूब गयीं। उसी समय इधर श्रीरामकृष्ण के मन में पंचवटी की ओर जाने की तीव्र इच्छा हो उठी। वे भावसमाधि की अवस्था में चल पड़े और वहाँ पहुँचकर सामने बैठकर ब्राह्मणी का नैवेद्य खाने लगे। शीघ्र ही उनकी भी बाह्य संज्ञा लुप्त हो गयी। ब्राह्मणी की जब चेतना लौटी, तब आँखें खोलने पर उन्हें बाहर अपने आन्तरिक दर्शन से सादृश्य दीख पड़ा। सम्भवतः उन्होंने रामचन्द्रजी को ही भोग के सामने बैठ देखा था। बाह्य ज्ञान लौट आने पर जब श्रीरामकृष्ण को बोध हुआ कि उन्होंने क्या कर डाला है, तब खेद प्रकट करते हुए वे कहने लगे, "पता नहीं, माँ, आत्मविह्वल होकर मैं इस प्रकार के आचरण क्यों कर बैठता हूँ ?" ब्राह्मणी ने उत्तर दिया, "कोई बात नहीं, बेटा, यह कार्य तुमने नहीं, तुम्हारे

अन्दर जो विराजमान हैं उन्होंने ही किया है; ध्यान में मग्न होकर मैंने देखा कि किसने ऐसा किया है। मैं अब यह भी जान गयी हूँ कि अब मेरे लिए बाह्य पूजन की आवश्यकता नहीं है। इतने दिनों बाद मेरा पूजन सार्थक हुआ है!" तदुपरान्त उन्होंने अवशिष्ट भोग-सामग्री को प्रसाद के रूप में ग्रहण किया। यह श्रीरामकृष्ण के जीवन की उन अनेक घटनाओं में से एक है, जिनमें उनके मन ने बाह्य चेतना और समाधि के बीच कहीं पर स्थित हो उन्हें ऐसे कार्यों के लिए प्रेरित किया था, जिनका विपुल आध्यात्मिक महत्त्व होते हुए भी जो उनके चेतन व्यक्तित्व को स्वीकार्य न थे।[१०]

सम्भवत: सन् १८६२ का वर्ष था। भैरवी ब्राह्मणी के निर्देशन में तंत्र-साधना प्रारम्भ हुई। श्रीराम कृष्णदेव ने बताया था, "ब्राह्मणी दिन में तो दूर-दूर तक विभिन्न स्थानों में जाकर तंत्रनिर्दिष्ट दुष्प्राप्य वस्तुओं का संग्रह किया करती थी और रात में बिल्ववृक्ष के नीच अथवा पंचवटी के नीचे सारी व्यवस्था करने के पश्चात् मुझे बुलाया करती थी। फिर उन सब वस्तुओं के द्वारा श्रीजगदम्बा का पूजन कराने के उपरान्त मुझको जप-ध्यान में निमग्न होने को कहती थी। किन्तु पूजन कराने के बाद मेरे लिए जप करना प्राय: असम्भव हो जाता था, क्योंकि तब मेरा मन इतना तन्मय हो जाता था कि माला जपने में प्रवृत्त होकर समाधिस्थ हो जाने के कारण इस क्रिया के शास्त्रनिर्दिष्ट फल को मैं प्रत्यक्ष अनुभव किया करता था। इस तरह एक के बाद दूसरा दर्शन, अनुभव के अनन्तर अनुभव प्राप्त कर मैंने न जाने उस

१०. वही, भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ २८०।

समय कितने अद्भुत दर्शन किये, जिनकी कोई सीमा नहीं है।" एक रात वे कहीं से एक सुन्दर युवा महिला को ले आयीं और ठाकुर को उसकी गोद में बैठकर जप करने का निर्देश दिया। वे आतंक से सिहर उठे तथा रोते हुए जगदम्बा से प्रार्थना करने लगे, "माँ, अपने शरणागत बालक को तू यह कैसी आज्ञा दे रही है? तेरी दुर्बल सन्तान में इस प्रकार का दुस्साहस करने की सामर्थ्य कहाँ है?" उनके ऐसा कहते ही एक अदृश्य शक्ति उनमें प्रविष्ट हो गयी और उन्हें शक्ति से परिपूर्ण कर दिया। उन्होंने बताया था, "मन्त्रोच्चारण करता हुआ उस युवती की गोद में बैठते हुए ही मैं समाधिमग्न हो गया। तदनन्तर जब मुझे बाह्य चेतना आयी, तब ब्राह्मणी मुझे बधाई देते हुए बोली कि दूसरे लोग इस अवस्था में धैर्यपूर्वक कुछ देर तक केवल जप करने के पश्चात् विरत हो जाते हैं। यह सुनकर मैं आश्वस्त हुआ तथा परीक्षा में उत्तीर्ण होने के निमित्त कृतज्ञतापूर्ण हृदय से जगदम्बा को बारम्बार प्रणाम करने लगा।"[११]

श्रीरामकृष्ण ने एक अत्यन्त अन्तरंग संस्मरण बताते हुए शिष्यों से कहा था, "इस प्रकार ब्राह्मणी ने कितने प्रकार के तान्त्रिक अनुष्ठान मेरे द्वारा कराये थे, अब वे सारी बातें मझे स्मरण भी नहीं हैं। किन्तु मुझे स्मरण है कि जिस दिन सुरतक्रिया में मग्न नर-नारी के सम्भोगानन्द को देखकर उसे शिव-शक्ति का लीला-विलास समझता हुआ मैं मुग्ध तथा समाधिस्थ हो गया था, उस दिन मेरी बाह्य चेतना के उदय होने पर ब्राह्मणी ने कहा था, 'बाबा, अब तुम आनन्दासन में सिद्ध होकर दिव्यभाव में

११. वही, भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ २९२।

प्रतिष्ठित हो चुके हो।" [१२]

ठाकुर की तत्कालीन अनुभूतियों का वर्णन करने के लिए अब हम कुण्डलिनी शक्ति की—योग के उन्नत साधकों द्वारा अनुभव किये जानेवाले आध्यात्मिक 'प्रवाह' की—भाषा का प्रयोग करेंगे। हृषीकेश से आये एक साधु ने उनके द्वारा अनुभूत संवेदनाओं को पुष्ट किया था। सुषुम्ना के सबसे नीचे के केन्द्र—मूलाधार—से उठनेवाली कुण्डलिनी नाम की शक्ति कभी-कभी तो चींटी के रेंगने के समान उठती थी, तो कभी उसका अनुभव उस मीन के समान होता, जो दिव्य समाधिज आनन्द के महासागर में उल्लासपूर्वक क्रीड़ा कर रही हो। जब वे करवट के बल पड़े होते तो देखते कि महावायु बन्दर की भाँति उन्हें ठेल रही है तथा एक ही उछाल में मस्तक में अवस्थित उच्चतम केन्द्र सहस्रार में चढ़ जाती है। या कभी वे उसे पक्षी की भाँति एक डाल से दूसरी पर फुदकती हुई अनुभव करते। उन्होंने कहा था कि जिस स्थान पर वह बैठती है, वह आग की तरह जान पड़ता है। या फिर वे अनुभव करते कि वह सर्प की भाँति तिर्यक् गति से ऊपर उठती है और समाधि में पहुंच जाती है। श्रीरामकृष्ण इनका वर्णन पाँच प्रकार की समाधियों के रूप में करते। अपने जीवन के आखिरी दिनों में उन्होंने एक भक्त से कहा था, "जब यह अवस्था हुई, उससे ठीक पहले मुझे दिखलाया गया किस तरह कुलकुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने पर क्रमशः सब पद्म खिलने लगे, और फिर समाधि हुई। यह बड़ी गुप्त बात है।

१२. वही, भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ. २९३।

मैंने देखा, बिल्कुल मेरी तरह का २२-२३ साल का एक युवक[13] सुषुम्ना नाड़ी के भीतर जाकर, जिह्वा के द्वारा योनिरूप पद्मों के साथ रमण कर रहा है। पहले गुह्य, लिंग और नाभि—चतुर्दल, षड्दल और दशदल पद्म—ये सब अधोमुख थे, फिर वे ऊर्ध्वमुख हो गये। जब वह हृदय में आया, मुझे खूब याद है, जीभ से रमण करने के बाद द्वादशदल अधोमुख पद्म ऊर्ध्वमुख होकर खिल गया, फिर कण्ठ में षोडशदल और कपाल में द्विदल पद्म के खुलने के बाद सिर में सहस्रदल पद्म प्रस्फुटित हो गया। तभी से मेरी यह अवस्था है।''[14] ऐसा लगता है कि यह वही युवा संन्यासी-मूर्ति थी, जो ठाकुर के विविध दर्शनों में उनके अन्तरंग मित्र के रूप में हमसे सुपरिचित है। एक अन्य समय उन्होंने इस अनुभूति का 'आत्मा का रमण' कहकर उल्लेख किया था।[15] स्वामी सारदानन्द कहते हैं कि इस काल के बाद से श्रीरामकृष्ण का स्वभाव प्रफुल्ल तथा विनोदप्रिय हो गया था तथा उनका देहज्ञान इतना कम हो गया था कि वे जनेऊ, कपड़े या जो कुछ भी पहनते थे, शायद ही कभी देह पर टिक पाता था।

इस अध्याय का उपसंहार करने के पूर्व इस काल के

---

१३. इसके आधार पर यदि हम मान लें कि श्रीरामकृष्ण उस समय २२ या २३ वर्ष के थे, तो इस अनुभूनि को हमें चार या पाँच वर्ष पूर्व ले जाना होगा।

१४. 'वचनामृत', भाग ३, द्वितीय सं., पृष्ठ २४८-५०; भाग १, तृतीय सं., पृष्ठ ३३१-३२; 'लीलाप्रसंग', भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ २९९।

१५. 'वचनामृत', भाग ३, द्वितीय सं., पृष्ठ ९७।

कुछ अन्य दर्शनों का भी उल्लेख किया जायगा। उन दिनों दक्षिणेश्वर में आनेवाले उल्लेखनीय व्यक्तियों में इंदेश के तान्त्रिक विद्वान् गौरी पण्डित भी थे। पाण्डित्य की अपेक्षा साधना की ओर उनका अधिक झुकाव था। वे अपने आगमन की सूचना कुछ रहस्यमय शब्दों का जोरों से चिल्लाकर उच्चारण करते हुए देते, जिसका तात्पर्य होता विरोधियों की शक्ति का हरण। एक अत्यन्त मनोरंजक घटना तब हुई, जब श्रीरामकृष्ण ने गौरी की अपेक्षा और भी जोर से उन शब्दों का उच्चारण करके अपनी शक्ति के द्वारा उनकी शक्ति का हरण कर लिया। जगदम्बा ने बाद में (हमें यह नहीं मालूम कि कब और किस रूप में) उन्हें बताया था कि गौरी की शक्ति इस प्रकार प्रकट होकर सदा के लिए चली गयी थी। श्रीरामकृष्ण ने बताया था, "माँ ने उसके कल्याण के लिए उसकी शक्ति यहाँ (अपने को दिखाते हुए) इसके अन्दर खींच ली।"[१६] ठाकुर जब बिल्ववृक्ष के नीचे साधना कर रहे थे, तब उन्हें ब्रह्मयोनि का दर्शन हुआ था, जिसमें उन्होंने एक बृहदाकार ज्योतिर्मय त्रिकोण देखा था। काफी बाद में स्वामी विवेकानन्द को भी इसका दर्शन मिलने पर उन्होंने अपने गुरुदेव को इसकी सूचना दी थी। सुनकर ठाकुर ने कहा, "बहुत अच्छी बात है, तुम्हें ब्रह्मयोनि का दर्शन हो गया। मुझे भी ऐसा ही दर्शन हुआ था तथा उसमें से प्रतिक्षण असंख्य ब्रह्माण्डों का प्रसव हो रहा है ऐसा मुझे दिखायी दिया था।" उन दिनों उनके कानों में भी ब्रह्म की ही ध्वनि सुन पड़ती थी। ॐकार—प्रणव—की 'अनाहत ध्वनि' उन्हें

१६. 'लीलाप्रसंग', भाग २, द्वितीय सं., पृष्ठ २७५।

ब्रह्माण्ड में सर्वत्र निरन्तर सुनायी पड़ती थी।[१७]

श्रीजगन्माता की मोहिनी माया के दर्शन की आकांक्षा हृदय में उदित होने पर श्रीरामकृष्णदेव ने उस समय देखा था कि एक अपूर्व सुन्दरी रमणी गंगाजी के भीतर से निकलकर धीरे-धीरे पंचवटी के नीचे उपस्थित हुई। उन्होंने देखा कि वह पूर्ण गर्भवती है तथा वह उनके समक्ष ही एक सुन्दर पुत्र को प्रसव कर उसे स्नेहपूर्वक स्तनपान करा रही है; दूसरे क्षण ही उनको यह दिखायी दिया कि कठोर विकराल रूप धारण कर उस शिशु को निगलने के पश्चात् वह पुनः गंगाजी में प्रविष्ट हो गयी।[१८] श्रीरामकृष्ण के उपदेशों तथा उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों के बीच इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि उनका अलग-अलग विश्लेषण करना असम्भव है। जगत् के बारे में वे जो कुछ सिखाते थे, उस पर उनकी कई अनुभूतियों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। इस दृष्टिकोण से उपर्युक्त दर्शन विशेष महत्त्वपूर्ण था। ऐसा ही उपनिषद् में भी लिखा है—"जिससे ये सभी जीव उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर ये जिसके आश्रय से जीवित रहते हैं और अन्त में विनाश को प्राप्त कर जिसमें लीन हो जाते हैं, उसे जानने की इच्छा करो; वही ब्रह्म है।"* श्रीरामकृष्ण इसकी तुलना एक जादूगर के जादू से करते थे, जो अपनी मन्त्रशक्ति से दर्शकों को भ्रमित कर

१७. 'लीलाप्रसंग', भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ २९९।

१८. वही, भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ ३०१।

* यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति॥
(तैत्तिरीयोपनिषद्, ३.१.१)

देता है। "जादूगर ही सत्य है और उसका जादू मिथ्या है"—यह कहते हुए अद्वैत वेदान्त के चरम तत्त्व को उन्होंने अपने घरेलू ढंग से व्यक्त किया है। यह दर्शन उनकी पूर्वोक्त प्रार्थना के भी अनुरूप है, जिसमें उन्होंने भला-बुरा आदि द्वन्द्व माँ के चरणों में सौंप दिये थे। हम आगे चलकर देखेंगे कि उनके अन्तिम दिनों में श्यामपुकुर में निवास करते समय भी उन्हें प्रायः ऐसा ही और दर्शन हुआ था।

आम तौर पर आध्यात्मिक सत्यों की अनुभूति सौन्दर्य या कम से कम आनन्द की वस्तु तो मानी ही जाती है। परन्तु श्रीरामकृष्ण का अनुभव हमें बताता है कि सर्वदा ही ऐसा नहीं होता। उनके भानजे हृदयराम के मन में अपने मामा की विशेष आध्यात्मिक अवस्था का अवश्य ही भान था। यद्यपि भान सर्वदा उसके मन में जागृत नहीं रहता था, फिर भी उसे इतना तो पता ही था कि श्रीरामकृष्ण जगदम्बा के विशेष कृपापात्र हैं। एक दिन उसने सुझाव दिया—"मामा, माँ से कुछ शक्ति के लिए प्रार्थना करो, कुछ सिद्धि माँगो।" सम्भवतः उसने आशा की थी कि जो चीज उसे स्वयं को अप्राप्य है, उसका वह दूसरे के माध्यम से उपभोग कर लेगा। वस्तुतः श्रीराम-कृष्ण ने पूर्व में ही अपने भीतर कुछ सिद्धियों का अनुभव किया था और वे उनके औचित्य के बारे में जानने को उत्सुक थे। दूसरों का सुझाव वे बिना सोच-विचार के मान लिया करते थे, अतः मन्दिर में जप करते समय उन्होंने माँ से हृदयराम की इस बात का उल्लेख किया। तुरन्त ही उन्हें एक बूढ़ी वेश्या दिखाई पड़ी, जो उनकी तरफ पीठ करके पाखाना करने लगी। जगदम्बा ने उन्हें

बताया कि विभूतियाँ इस वेश्या की विष्ठा के समान घृण्य हैं। आहत होकर ठाकुर हृदय के पास गये और उसे डाँटते हुए कहने लगे, "तूने क्यों मुझे ऐसी बात सिखलायी ? तेरे लिए ही तो मुझे ऐसा हुआ।"[१९] यहाँ पर हम यह स्मरण कर सकते हैं कि संट टेरेसा तथा रहस्यवादियों को भी अत्यन्त अप्रिय दर्शन हुए थे। उनके जीवन में ऐसी घटनाओं को शैतान का कार्य कहा गया है। परन्तु श्रीरामकृष्ण के लिए उनके द्वारा अनुभूत प्रत्येक सत्य ईश्वर से ही आया था, क्योंकि जगदम्बा ही सारे सत्यों का एकमात्र उद्गम थी। फिर बिल्ववक्ष के नीचे ध्यान करते समय उन्होंने एक दिन अपने सामने एक दुशाला, रुपयों का ढेर और एक थाल सन्देश (मिठाई) देखा, साथ ही नाक में नथ पहने दो औरतें भी उन्हें दीख पड़ीं। वे अपना यह दर्शन बताते हुए कहते हैं, "तब मैंने मन से पूछा, 'मन, तू इनम से कुछ चाहता है ?' मन ने कहा, 'नहीं, मैं कुछ भी नहीं चाहता, ईश्वर के पादपद्मों को छोड़ मैं और कुछ नहीं चाहता।' स्त्रियों का भीतर-बाहर सब मुझे दीख पड़ने लगा,—जैसे शीशे की आलमारियों की कुल चीजें बाहर से दीख पड़ती हैं। भीतर मैंने देखा—मल, मूत्र, विष्ठा, कफ, लार, आँतें, यही सब।"[२०]

तो भी उनके अधिकांश दर्शन, विशेषकर जगदम्बा के, महान् सौन्दर्य से युक्त थे। स्वामी सारदानन्द

---

१९. 'वचनामृत', भाग ३, द्वितीय सं., पृष्ठ ९९; 'लीलाप्रसंग', भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ ३००।

२०. 'वचनामृत', भाग २, द्वितीय सं., पृष्ठ १०; भाग ३, द्वितीय सं., पृष्ठ ९८।

बताते हैं कि श्रीरामकृष्ण ने इन दिनों देवी के त्रिभुजा से लेकर दशभुजा तक असंख्य रूप देखे। ठाकुर स्वयं ही बताते हैं कि जब वे बिल्व के नीचे साधना कर रहे थे तो 'पाप पुरुष' उनके समक्ष प्रकट हो उन्हें तरह तरह के लोभ दिखाने लगा। वह गोरे सिपाही का रूप धारण करके आया था और उन्हें रुपया, रमण-सुख, सिद्धि आदि बहुत कुछ देना चाहता था। वे कहते हैं—"मैं माँ को पुकारने लगा। बड़ी गुप्त बात है। माँ ने दर्शन दिये, तब मैंने कहा, 'माँ, इसे काट डालो!' माता का वह रूप, भुवनमोहन रूप याद आ रहा है। वह कृष्णमयी[21] का रूप लेकर मेरे पास आयी थी—परन्तु उसकी दृष्टि के नर्तन के साथ ही मानो संसार हिल रहा था।"[22] "परन्तु श्रीराजराजेश्वरी या षोड़शी मूर्ति के सौन्दर्य के साथ उनके (अन्य) रूपों की कोई तुलना नहीं हो सकती।" वे कहते थे—"षोड़शी या त्रिपुरा मूर्ति का सौन्दर्य मुझे ऐसा अद्‌भुत दीख पड़ा कि उसके शरीर से रूप-लावण्य मानो सचमुच ही टपक रहा हो और चारों दिशाओं में फैल रहा हो!"[23] हमें यह ज्ञात है कि १८८४ ई. में श्रीरामकृष्ण के कमरे की दीवाल पर राजराजेश्वरी का एक चित्र लगा हुआ था, पर यह नहीं पता कि वह वहाँ

२१. हमने यह उद्धरण 'वचनामृत' ग्रन्थ से लिया है, जहाँ पाद-टिप्पणी में उसे बलराम बोस की छोटी पुत्री कहा गया है; परन्तु मूल बँगला में 'रूप' शब्द का अर्थ यहाँ 'कृष्णमयी के समान सुन्दर' भी लिया जा सकता है और इस प्रकार यह आवश्यक नहीं है कि उस बालिका के जन्म के काफी पूर्व ही उन्होंने उसका चेहरा देखा हो।

२२. 'वचनामृत', भाग ३, द्वितीय सं., पृष्ठ १००।

२३. 'लीलाप्रसंग', भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ ३०१।

काफी पहले से लटक रहा था अथवा उन्होंने इस दर्शन के बाद उसे मँगवाया था।

तान्त्रिक साधना की परिसमाप्ति के इस काल में ठाकुर को विविध पुरुष-मूर्तियों यथा शिव के संगी भैरव के भी दर्शन हुए थे। बिल्ववृक्ष के नीचे जहाँ पर ये अधिकांश साधनाएँ हुई थीं, उन्हें अनेक 'चमकते हुए दर्शन' और दिव्य अनुभूतियाँ हुई थीं, जिनका विवरण उन्होंने नहीं दिया है।[24]

श्रीरामकृष्ण के जीवन के इस काल से, जिसमें भैरवी ब्राह्मणी का प्रभाव सर्वप्रमुख था, विदा लेने से पूर्व हम उनके (ब्राह्मणी के) एक अन्य शिष्य चन्द्र के जीवन में घटी एक विचित्र घटना का उल्लेख करेंगे। चन्द्र, जो देश के एक अन्य भाग से वहाँ आया हुआ था, अरियादह में ब्राह्मणी के निवासस्थान पर आमन्त्रित था। उस व्यक्ति अथवा उसकी उपस्थिति के बारे में कोई जानकारी दिये बिना ही श्रीरामकृष्ण को भी वहाँ बुलाया गया था। वहाँ पहुँचकर ठाकुर समाधि में डूब गये और उसी अवस्था में उस व्यक्ति के बारे में सब कुछ जान गये। वे बोले, "ओह! यह चन्द्र है। अच्छा, यह चन्द्र ही तो है न?" इसके पश्चात् वे निस्पन्द हो गये। इस पर चन्द्र ने ठाकुर के हाथ पकड़कर उनका नाम लेकर कई बार जोर-जोर से पुकारा। श्रीरामकृष्ण की बाह्य संज्ञा लौटी। चन्द्र ने कहा, "लगता है आप मुझे जानते हैं, तो फिर मुझे इतने दिनों तक भूले क्यों रहे?" उत्तर मिला– "ईश्वर की जैसी इच्छा।" इस प्रकार इन दो उच्च

२४. 'वचनामृत', भाग ३, द्वितीय सं., पृष्ठ २२०।

आत्माओं के बीच एक ऐसी विचित्र वार्ता की शुरुआत हुई, जिसे सामान्य श्रोता एक अलग ही भाषा कहेंगे। बाद में श्रीरामकृष्ण ने बताया था कि चन्द्र के भीतर विष्णु की थोड़ी शक्ति थी, इसीलिए वह उन्हें समाधि से आसानी-पूर्वक वापस ला सका था। हमें इस तथ्य का ठीक महत्त्व तब मालूम होता है, जब हम स्मरण करते हैं कि ठाकुर के सेवकों के लिए भी उनके मन को समाधि से उतार पाना आसान न था। □

स्वामी तुरीयानन्द : कुछ प्रेरक प्रसंग

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(ब्रह्मलीन श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के परमाध्यक्ष थे। उन्होंने रामकृष्ण मठ, तमलुक (पश्चिम बंगाल) में १२ जनवरी १९७९ को भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के लीलापार्षद स्वामी तुरीयानन्दजी के बारे में अपने संस्मरण सुनाते हुए जो चर्चा की थी, उसका हिन्दी अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। अनुवादक हैं रामकृष्ण मठ, नागपुर के ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य।—स.)

आज हरि महाराज—स्वामी तुरीयानन्द का जन्म-दिन है। उनके बारे में जो कुछ स्मरण है, कहूँगा। सन् १९२० और १९२१ के मार्च तक मैं उनके साथ था।

कलकत्ते में बागबाजार के एक ब्राह्मण-परिवार में उनका जन्म हुआ था। बचपन से ही वे त्यागनिष्ठ थे और शुकदेव उनके आदर्श थे। उपनयन होने के बाद स ही वे खुद का पकाया हुआ हविष्यान्न खाते और गीता-उपनिषद् का पाठ किया करते। इसी समय एक दिन दक्षिणेश्वर में उनका श्रीरामकृष्ण के साथ साक्षात्कार हुआ। ठाकुर उनसे बोले, "क्यों जी, आजकल तुम खूब वेदान्त-विचार कर रहे हो सुना? अच्छा है, अच्छा है। विचार तो सिर्फ इतना ही है न—ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या या और भी कुछ?" हरि महाराज अवाक् रह गये। समझ गये कि ठाकुर ने दो-एक शब्दों में ही वेदान्त का सार कह दिया है।

ठाकुर हरि महाराज को 'गीतोक्त संन्यासी' कहा करते थे। वास्तव में जब हम उन्हें देखते, तब उनका चाल-चलन, बातचीत आदि देख हमें गीता में श्रीकृष्ण

द्वारा निरूपित स्थितप्रज्ञ के लक्षणों की याद हो आया करती। निःसन्देह वे एक स्थितप्रज्ञ पुरुष थे।

उनके सम्बन्ध में कुछ बातें कहूँगा, जिससे आप समझ सकें कि वे कितने महान् त्यागी थे। एक दिन वे गंगा के तट पर बैठे हुए थे। रात काफी बीत चुकी देख उन्होंने सोचा कि आश्रम लौट चलूँ। पर साथ ही मन में यह विचार भी आया यह कैसी बात है? मैं संन्यासी हूँ, वृक्ष के नीचे ही मेरा वास है। फिर भी मैं आश्रम क्यों जाऊँ? उन्होंने निश्चय किया कि अब वे आश्रम नहीं लौटेंगे। बहुत दिनों तक इसी भाव में डूबे रहकर वे बाहर ही रहे। कहीं भी आश्रय न ले पेड़ के नीचे पड़े रहते। इसी समय एक दिन जब वे एक वृक्ष के नीचे सोये हुए थे, अचानक किसी ने मानो उन्हें धक्का देकर कहा--"हट जाओ।" वे उठकर थोड़ा खिसक गये और तभी वृक्ष की एक मोटी डाल चरमराकर, जहाँ वे सोये हुए थे, वहीं पर गिर पड़ी। वे समझ गये कि प्रभु ने ही उन्हें सतर्क करके हटा दिया, नहीं तो वे उस डाल के नीचे दबकर मर जाते।

उन्हीं दिनों की एक और घटना है। साधु लोग जिस सत्र में भिक्षा लेने जाया करते, वहाँ पर एक दिन एक मारवाड़ी सज्जन साधुओं को खिलाने के लिए विविध व्यंजन लेकर उपस्थित थे। साधुओं के भिक्षार्थ आने पर वे उनसे पूछ रहे थे—"वैराग्य किसे कहते हैं?" प्रश्न के उत्तर में हर साधु छोटा-मोटा व्याख्यान ही दिये दे रहा था। हरि महाराज की बारी आने पर जब उनके सामने भी यही प्रश्न रखा गया, तो उत्तर में वे बोले, "वैराग्य किसे कहते हैं यह यदि जानता तो क्या दो

रोटियों के लिए तुम्हारे पास आता ?" उत्तर सुनकर साधुओं ने उनकी खूब प्रशंसा की। दाता सज्जन भी समझ गये कि वैराग्य किस चिड़िया का नाम है।

एक दिन हरि महाराज कहीं जा रहे थे और उनके पीछे-पीछे हमारे मठ के भी कुछ साधु लोग चल रहे थे। रास्ते के पास ही एक सुन्दर नया दुमंजिला मकान बन रहा था। उसे देखकर एक साधु बोल उठे, "वाह ! यह तो बहुत ही अच्छा मकन है।" हरि महाराज तुरन्त पलटकर बोले, "मकान तो अच्छा है, पर इससे तुम्हें क्या मतलब ?" हरि महाराज के कहने का तात्पर्य था कि सम्भवतः उन साधु के मन में एक अच्छे मकान में रहने की सुप्त वासना थी। इसीलिए उन्होंने समझा दिया कि इस प्रकार की आकाँक्षा रखना भी उचित नहीं है। इसी तरह वे सदा हमारी भूलें बता दिया करते थे।

हरि महाराज जब उत्तराखण्ड में तपस्या कर रह थे, उन दिनों वे स्वामीजी* तथा महाराज† के साथ भ्रमण करते हुए मेरठ पहुँचे। मेरठ से वे अलग-अलग रास्तों पर चल दिये। इधर परिव्राजक स्वामीजी बम्बई पहुँचे, जहाँ से वे खेतड़ी के महाराजा के साथ मुलाकात करने गये। लौटते समय आबूरोड स्टेशन पर उनकी हरि महाराज और राजा महाराजा† के साथ भेंट हो गयी। वहाँ पर स्वामीजी ने हरि महाराज से कहा था, "देखो हरिभाई, भगवद्-दर्शन वगैरह की बात तो मैं नहीं समझता। ब्रह्म-ज्ञान, ब्रह्मदर्शन यह सब बात भी समझ में नहीं आती। परन्तु मेरा हृदय बड़ा विशाल हो गया है और मैं सबके लिए अनुभव करता हूँ।" उसके बाद ही उन्होंने लिख

* स्वामी विवेकानन्द। † स्वामी ब्रह्मानन्द।

दिया—"God is Love" (ईश्वर प्रेमस्वरूप है ।) हमारे शास्त्र—'भक्तिसूत्र'—में कहा है कि ईश्वर अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप है । कैसा प्रेमस्वरूप है यह वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता । वह अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप है, बस इतना ही । इसीलिए स्वामीजी ने यह बात कही थी ।

स्वामीजी दूसरी बार विदेश यात्रा को जाते समय हरि महाराज को अपने साथ ले जाना चाहते थे । परन्तु हरि महाराज इस पुण्य-देवभूमि भारत को छोड़कर जाने के लिए तैयार न थे । अन्त में स्वामीजी ने उन्हें जकड़ लिया और कहा, "देखो हरिभाई, ठाकुर का काम करते-करते मेरा शरीर टूट गया है । तुम लोग क्या मेरी जरा सी भी सहायता न करोगे ?" ऐसा अनुनय सुनकर हरि महाराज राजी हो गये । वे स्वामीजी के साथ अमेरिका गये । स्वामीजी ने उनसे कहा था, "तुम्हें यहाँ वक्तृता आदि नहीं देनी होगी । एक आदर्श संन्यासी का जीवन जैसा होता है, तुम सिर्फ वही दिखा देना । इतने से ही काम हो जायगा ।" स्वामीजी ने एक बार अमेरिकावासियों से कहा था, "तुम लोगों ने मेरे अन्दर एक (Fighting) (योद्धा) संन्यासी को देखा है, अब एक ब्राह्मण-संन्यासी को देखो, तभी ठीक-ठीक भारतीय संन्यासी का आदर्श समझ सकोगे ।" स्वामी तुरीयानन्दजी ने वैसा ही एक आदर्श संन्यासी का जीवन बिताया था । वे कैलिफोर्निया के 'शान्ति आश्रम' में निवास करते थे । भारतवर्ष के आश्रमों में संन्यासी जिस प्रकार रहते हैं, वैसे ही वे भी रहते थे । प्रवचन आदि विशेष नहीं देते थे और अधिकतर जप-ध्यान-स्वाध्याय आदि में ही समय बिताया करते थे ।

एक दिन क्लास (कक्षा) में उन्होंने आश्रम के अन्ते-वासियों से कहा था, "Seriously (गम्भीरतापूर्वक) यदि तुम लोग भगवान् को पुकारो, तो तीन दिनों में ही भगवद्दर्शन हो सकता है।" यह बात सुनकर आश्रम की एक अल्पवयस्क महिला तीन दिनों तक कमरे से बाहर नहीं निकली। उसने अपना सारा समय भगवच्चिन्तन में बिताया। तीन दिनों बाद उसने आकर हरि महाराज से कहा, "Well, Swami, what you said is true" (स्वामीजी, आपने जो बात कही थी वह सत्य है)। तात्पर्य यह कि तीन दिनों तक भगवान् को पुकारने के बाद उस महिला को भगवान् का दर्शन यदि न भी हुआ हो तो कुछ न कुछ अनुभूति निश्चित रूप से हुई थी।

एक अन्य दिन की घटना है। एक भक्त ने आकर उनसे कहा, "Swami, we are going to have a theatre. It is a very beautiful and well-managed play let us go (स्वामीजी, आज एक बहुत ही सुन्दर तथा सुनियोजित नाटक होनेवाला है। चलिए हम लोग देखने चलें)। हरि महाराज बोले, "क्या नाटक देखोगे? क्या stage-management (मंच-प्रबन्ध) देखोगे? इस जगत् को ही देखो न। यह भी तो एक रंगमंच है। ऐसी रंगशाला तुम्हें और कहाँ मिलेगी? तुम जरा witness (साक्षी) होकर इसका अवलोकन तो करो, फिर देखोगे यह कितना मजेदार है। इससे चिपक जाने पर ही विपत्ति है। साक्षी-स्वरूप रह पाने पर देखोगे कि इस विश्व-रंगशाला में कितनी तरह के खेल चल रहे हैं। इससे अच्छा नाटक

तुम और कहाँ देखोगे ?" उन्होंने आगे कहा, "इन सब बातों से कोई लाभ नहीं । आओ हम लोग थोड़ा गीता पढ़ें ।" यह कहकर वे उस भक्त के साथ गीता का अध्ययन करने लगे ।

स्वामीजी जब उन्हें विदेश ले जा रहे थे, उस समय की घटना है । हरि महाराज ने एक दिन अपना बटुआ मेज पर रख दिया था । यह देख स्वामीजी ने उनसे कहा, "हरि महाराज, यह क्या ? तुमने रुपया-पैसा मेज पर क्यों डाल रखा है ?" हरि महाराज बोले, "कौन लेगा यहाँ से ? रहने दो ।" स्वामीजी गम्भीर होकर कहने लगे, " You have no right to tempt others" (दूसरों को प्रलोभन दिखाने का तुम्हें अधिकार नहीं) । और तब हरि महाराज ने बटुआ संभालकर रख दिया ।

स्वामीजी के अमेरिका से भारत लौट जाने के बाद हरि महाराज वहाँ खूब परिश्रम करने लगे । शान्ति आश्रम में उनका जीवन कठोरता से भरा होता । फल-स्वरूप उनका स्वास्थ्य खराब हो गया । फिर उन्होंने यह भी सुना कि स्वामीजी की तबियत काफी बिगड़ गयी है । अतः वे स्वदेश लौटने को व्यग्र हुए और भारतवर्ष के लिए चल भी पड़े । रंगून पहुँचकर उन्हें समाचार-पत्रों द्वारा पता चला कि स्वामीजी अब नहीं रहे । यह संवाद पाकर वे अत्यन्त मर्माहत हुए । वे बेलुड मठ आये और वहाँ थोड़े दिन बिताने के बाद ही तपस्या करने उत्तराखण्ड चले गये । उस समय उन्होंने ऋषि-केश, मुँगेर, नांगल और गढ़मुक्तेश्वर आदि स्थानों में रहकर तपस्या की थी ।

उन दिनों एक ब्रह्मचारी उनकी सेवा करने को आग्रही

हुआ था। उनकी आपत्ति के बावजूद उस ब्रह्मचारी ने उनकी सेवा करने का प्रयास किया। फलस्वरूप वे क्षुब्ध होकर अपना एकमात्र सम्बल कमण्डलु तथा दण्ड लेकर कुटिया से निकल पड़े। परेशान ब्रह्मचारी के पूछने पर उन्होंने कहा, "इस कुटिया में दो लोग नहीं रह सकते—या तो मैं रहूँगा या तुम्हीं रहोगे।" निरुपाय हो ब्रह्मचारी ने अपना प्रयास छोड़ दिया। वे ऐसा ही कठोर जीवन बिताया करते थे। कुछ दिनों के लिए वे वृन्दावन में भी थे। उन दिनों प्रातःकाल चार बजे उठते और कुएँ के जल से स्नान कर ध्यान में बैठ जाते। वे हम लोगों से कहा करते, "ध्यान करना क्या आसान बात है? जाड़े के दिनों में सुबह चार बजे कुएँ के ठण्डे जल से स्नान कर ध्यान करने बैठा करता और थोड़ी ही देर बाद शरीर से पसीना निकलने लगता।" वे कहते, "एक घण्टा ध्यान करना और चार घण्टे खेत में मिट्टी खोदना—दोनों से समान परिश्रम लगता है।" हम लोग सोचते हैं कि सिर्फ आँखें मूँद लेने से ही ध्यान जम जायगा और भगवान् आकर उपस्थित हो जाएँगे। परन्तु वास्तविक ध्यान करने में कितना परिश्रम लगता है यह हरि महाराज की बातों से ही मालूम होता है।

अत्यधिक कठोर तपस्या के फलस्वरूप उनका स्वास्थ्य टूट गया था, इसलिए साधुओं ने उन्हें कनखल सेवाश्रम में रखकर उनकी सेवा की थी। इसके पूर्व वे ऋषिकेश में रहते थे। वहाँ भी वे प्रतिदिन खूब भोर में उठकर जप-ध्यान किया करते। वहाँ एक धनी व्यक्ति सुबह उठकर साधुओं की कुटिया देखते हुए घूमा करता। उसने लक्ष्य किया कि हरि महाराज प्रतिदिन खूब सबेरे से ही ध्यान करते हैं। आसपास के सभी लोग हरि महाराज की प्रशंसा

करते न थकते। कुछ दिनों बाद उस धनाढ्य व्यक्ति ने छः हजार रुपये देकर हरि महाराज को प्रणाम किया। हरि महाराज बोले, "मैं इन रुपयों का क्या करूँगा ? मुझे कोई आवश्यकता नहीं। बल्कि तुम ये रुपये लेकर कनखल चले जाओ। वहाँ कल्याणानन्द और निश्चयानन्द इन दो साधुओं ने मिलकर रोगियों की सेवा के लिए एक छोटा सा सेवाश्रम बनाया है। उन्हें यह धन देने से परोपकार में लग जायगा।"

कनखल में कुछ दिन बिताने के बाद वे बेलुड़ मठ लौट आये। वहाँ से वे पुरी गये। पुरी से कुछ अन्य स्थानों का भ्रमण करने के बाद वे वाराणसी आये और अन्त तक वहीं रहे। स्वामीजी के सेवा-आदर्श के प्रति उनका तीव्र अनुराग था। एक बार एक ब्रह्मचारी ने उनसे पूछा, "आप लोग जब इतनी तपस्या कर रहे हैं, तो क्या हम लोगों को नहीं करनी चाहिए ?" उत्तर में वे बोले, "एक दिन दार्जिलिंग में स्वामीजी ने कहा था, 'देखो, इसके बाद यहाँ बहुत से लोग साधु होने के लिए आएँगे। उनमें से अधिकांश में चौबीसों घण्टे ध्यान करने की क्षमता न होगी। बाकी समय वे कैसे बिताएँगे ?' तभी तो स्वामीजी ने सेवा का आदर्श देकर उन सबको काम में लगाया, जिससे देश का कल्याण हो और अपना भी भला हो।" हरि महाराज कहा करते—"स्वामीजी का यह कार्य जो भी करेगा, वह मुक्त हो जायगा।" वे सेवाश्रम का कार्य बहुत पसन्द करते थे। सन् १९१९-२० ई. में राजा महाराज वाराणसी गये थे। उनके साथ शरत् महाराज* भी थे। शरत् महाराज वहाँ पर किरण दत्त के मकान में रहा करते थे और महाराज

* स्वामी सारदानन्द।

अद्वैताश्रम की दूसरी मंजिल पर। एक दिन हम सब महाराज के पास बैठे थे। शरत् महाराज भी वहीं थे। महाराज ने उस दिन हरि महाराज के बारे में बहुत कुछ बताया। उन्होंने कहा था—"देखो शरत्! मेरी तो हरि महाराज को प्रणाम करने की इच्छा हो रही है। ऐसे महापुरुष दुर्लभ हैं। देखो न! रोग-व्याधि की बातें भूलकर कैसे आत्मस्थ हैं।" इसके बाद हम लोग तो उठ गये, पर शरत् महाराज सीधे हरि महाराज के कमरे में गये। हरि महाराज मधुमेह के कारण गर्मी बिल्कुल न सह पाते थे। वे अपने कमरे का दरवाजा बन्द रखा करते थे। शरत् महाराज ने उनके कमरे में प्रवेश कर चरण स्पर्श करके उन्हें प्रणाम किया। अन्धकार में साफ-साफ न देख पाने के कारण हरि महाराज ने पूछा, "कौन? कौन?"

शरत् महाराज—"मैं शरत्।"

हरि महाराज क्षुब्ध होकर बोले, "मैं रोग से प्रायः अन्धा हो चला हूँ, इसीलिए तुमने मुझे परेशान किया!"

शरत् महाराज—"भाई, इतने दिनों तक तुम छिपे बैठे थे। आज महाराज ने हमें बतला दिया है कि तुम कौन हो और तुम्हारा वास्तविक स्वरूप क्या है।"

शरीर पर उनका असाधारण control (नियन्त्रण) था। मधुमेह रोग से कष्ट पाते हुए भी वे आनन्द में रहा करते। प्रायः ही उनके मुख से सुनने में आता—"देह जाने दुःख जाने मन तुइ आनन्दे थाक्" (दुःख और शरीर एक दूसरे को समझें, परन्तु मन! तुम सदा आनन्द में रहो)। फिर वे हिन्दी में उद्धरण दुहरायाा करते, जिसका अर्थ है—शरीर रहने पर टैक्स देना ही पड़ेगा। ज्ञानीजन उस कष्ट को सहन कर लेते हैं, व्यग्र नहीं होते, परन्तु अज्ञानीजन

परेशान हो जाते हैं। ज्ञानी और अज्ञानी के बीच अन्तर इतना ही है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था— "सुख-दुःख, शीत-उष्ण ये सब 'आगमापायी' हैं—आते हैं और चले जाते हैं, चिरकाल नहीं रहते, इसलिए 'तांस्तितिक्षस्व'—तुम उन्हें सह लो।" सहन करने के अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं है। यदि होता, तो श्रीकृष्ण अपने प्रिय भक्त अर्जुन को अवश्य बतलाते। हरि महाराज स्वास्थ्य बहुत खराब होने पर भी उतावले या विचलित नहीं होते थे। अन्तिम दिनों में उनकी पीठ में 'कार्बंकल' (फोड़ा) हुआ था। सर्जन ने अस्त्रोपचार (आपरेशन) करने के लिए क्लोरोफार्म देना चाहा, पर उन्होंने मना कर दिया। सर्जन के छुरी लगाने पर वे चौंककर उछल पड़े। उन्होंने डाक्टर से कहा, "मुझे बतलाये बिना चीर-फाड़ न करें। पहले मुझे बतला दें।"

डाक्टर ने कहा, "अच्छी बात है, अब मैं छुरी चलाऊँगा।"

हरि महाराज—"ठीक है, मुझे थोड़ा समय दें।"

कुछ क्षणों के बाद ही हरि महाराज बोले, "अच्छा अब कर सकते हैं।" डाक्टर ने छुरी लेकर कार्बंकल काटा, दबाकर मवाद निकाला और घाव के भीतर गाज घुसाया। हरि महाराज जरा-सा भी न सिहरे। ऐसा लग रहा था मानो डाक्टर केले के पेड़ पर चीरफाड़ कर रहे हों। डाक्टर का कार्य पूरा हो जाने पर उन्होंने पूछा, "हो गया?"

डाक्टर—"जी हाँ।"

हरि महाराज की ऐसी सहनशीलता देख डाक्टर अवाक् रह गये। सोचने लगे कि जो व्यक्ति शुरू में छुरी लगाने पर उछल पड़ा था, वह इतनी पीड़ा कैसे सह सका?

देखकर ऐसा लगा मानो हरि महाराज ने मन को देह से अलग कर लिया था; शरीर के साथ आत्मा का सम्पर्क मानो विच्छिन्न हो गया था——ठीक वैसे ही जैसे सूखे नारियल में खोपड़े के साथ गरी का सम्पर्क नहीं रहता। इसी कारण शरीर पर चीर-फाड़ होने पर भी उन्हें कष्ट का अनुभव नहीं हुआ।

हरि महाराज बड़े सद्भाव-सम्पन्न तथा सीधे-सादे स्वभाव के मनुष्य थे। फिर दूसरी ओर वे खूब कठोर भी हो जाते। साधन-भजन में कोई गलती होने से वे खूब डाँटते। वे समय के बड़े पाबन्द थे। वे चाहते थे कि सब कार्य समय पर और ठीक-ठीक हो। एक घटना है। उन्हें चार बजे दूध दिया जाता था। एक दिन वे खाट पर बैठे थे। सामने दीवार पर घड़ी थी। सेवक जब दूध लेकर कमरे में आया, तब घड़ी में चार बजकर एक या डेढ़ मिनट हो गया था। मुख से कुछ न कह उन्होंने सिर्फ घड़ी की ओर देखा। सेवक दूध लेकर चुपचाप खड़ा रहा। उसके हाथ-पाँव काँप रहे थे। उन्होंने दूध नहीं पिया। वे समय के ऐसे पाबन्द थे।

अमेरिका में वे कहा करते, "जो मेरे शरीर की सेवा करते हैं, मैं उनकी आत्मा की सेवा करता हूँ। मुझे उनकी आत्मा के कल्याण की ओर दृष्टि रखनी पड़ती है। इसीलिए बीच-बीच में उन्हें डाँट-फटकार भी लगानी पड़ती है।" एक सेवक अत्यन्त भक्तिपूर्वक उनकी सेवा करता था। उसके मन में आया कि ये कैसे साधु हैं जो इतना डाँटते-फटकारते हैं। एक दिन वह पूछ बैठा—" You are a sannyasin. How is it that you become so restless and you lose your temper"

(आप संन्यासी होकर भी इतने चंचल तथा क्रोधित क्यों हो जाते हैं) ? हरि महाराज ने कहा, "देखो, तुम लोग तो अपने ही आदमी हो। मैं जो तुम्हें डाँटता हूँ, वह तुम्हारी ही भलाई के लिए। परन्तु यदि तुम सहन नहीं कर पाते तो ठीक है, कल से तुम्हें और कुछ न कहूँगा।" बाद में वह सेवक बताया करता, "कितने आश्चर्य की बात है ! उस दिन के बाद उन्होंने मुझे एक बार भी नहीं डाँटा। अचानक ही मानो वे बिल्कुल बदल गये।" इससे यह पता चलता है कि अपने सेवकों के कल्याणार्थ ही वे डाँटते-फटकारते थे। वैसे डाँटना-फटकारना उनके स्वभाव में नहीं था।

वे हम लोगों से कहा करते, "मैं कभी भी झुककर सहारा लेकर नहीं बैठा। अभी जैसे इस armchair (कुर्सी) पर बैठा हूँ, ठीक वैसे ही सदा मेरुदण्ड को सीधा रखकर बैठा हूँ। इस समय मैं जैसा बैठा हुआ हूँ, वैसे ही बैठना।" वे बिस्तर के बीच में सीधा बैठा करते। उन्होंने कहा था, "जिस दिन से मैंने साधन-भजन शुरू किया, उसी दिन से इस प्रकार मेरुदण्ड को सीधा रख आसन में बैठा हूँ। कभी सहारा लेकर नहीं बैठता।" अन्तिम दिनों में भी यद्यपि उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था और वे लेटे रहते थे, वे सेवकों से अपने को उसी प्रकार सीधा बैठा देने को कहते। सेवकों को वैसा करने का साहस न होता, क्योंकि इससे उनकी हृदयगति के रुक जाने की आशंका थी। अन्तिम दिन जब सेवक उन्हें बैठाने को राजी न हुए, तो वे विरक्तिपूर्वक बोले, "देखते नहीं, प्राण निकले जा रहे हैं और तुम लोग मुझे बैठाते नहीं।" सम्भवतः उनकी इच्छा थी कि बैठे-बैठे ही देहत्याग करें।

□

मेरी कैलास-मानसरोवर यात्रा

स्वामी स्वरूपानन्द
(रामकृष्ण आश्रम, रामकृष्णपुरी, ग्वालियर-४७४००१, म.प्र.)

(उत्तरार्ध)

ताकलाकोट से राक्षसताल की ओर

तेरहवें दिन १० जुलाई को नाश्ता आदि लेकर प्रात: १० बजे (भारतीय समयानुसार रात्रि के ३-३० बजे) 'जय कैलासपति' की जयध्वनि करते हुए हम लोग विशेष बस द्वारा कैलास-मानसरोवर के दर्शनों के लिए रवाना हुए। साथ में चीनी विदेश मंत्रालय के सक्षम अधिकारी एवं तिब्बती गाइड मि. दोरजी थे। बस के आगे-आगे जीप पर चीनी अधिकारी मि. सुईंग एवं अन्य लोग सवार थे। रास्ते में कहीं पेट्रोल मिलने की सम्भावना नहीं थी, इसलिए हमारी बस में पेट्रोल से भरे ड्रम रख लिये गये थे। ड्रमों के ढक्कन अच्छी तरह से बन्द न होने के कारण पेट्रोल ड्रमों से छलककर हम लोगों के ऊपर गिर रही थी। बड़ी मुश्किल से पीछे की तरफ एक सीट मिली। उस समय सूर्योदय हो चुका था। रास्ते के दोनों ओर शुभ्र हिमशिखर सूरज की किरणों से झिलमिल झिलमिल कर रहे थे और विभिन्न रंगों की अपूर्व छटा दिखाई दे रही थी। परन्तु सूर्य भगवान् उत्तुग पर्वतशिखर के पीछे कहीं छिपे हुए थे। थोड़ी देर बाद बस रावणह्रद यानी राक्षसताल के किनारे-किनारे चलने लगी। कुछ लोग वहाँ उतरे और वहाँ के छायाचित्र लिये, पर किसी ने भी उसके जल का स्पर्श नहीं किया। इसके सम्बन्ध में किम्वदन्ती है कि जब लंकापति रावण कैलास पर्वत पर तपस्या कर रहा था, तब सिद्धि में विलम्ब देख उसने एक दिन विचार किया कि क्यों न इस कैलास पर्वत को ही उखाड़कर लंका ले जाया जाए। और जब उसने

अपनी सुदृढ़ भुजाओं से कैलास को उठाने का प्रयत्न किया, तो कैलास हिलने लगा। पार्वतीजी ने घबड़ाकर महादेवजी से कैलास के हिलने का कारण पूछा। शिवजी ने अपने मनश्चक्षु से रावण की हरकत देख ली और अपने दाहिने पैर के अँगूठे से कैलास को थोड़ा-सा दबा दिया। इससे रावण उस पर्वत के नीचे दबकर मर्मान्तिक पीड़ा से आर्तनाद करता हुआ रुदन करने लगा। कहते हैं कि उसी के अश्रु-जल से इस सरोवर की सृष्टि हुई। इसीलिए इसे 'रावण-ह्रद' कहते हैं। अन्य दूसरे धर्म में आस्था रखनेवाला व्यक्ति भी इसके जल का स्पर्श नहीं करता है।

राक्षसताल से मानसरोवर

राक्षसताल पार करने पर मानसरोवर के दर्शन मिले और थोड़ी देर बाद ही पावन कैलास के भव्य दर्शन कर सभी आनन्द से जयध्वनि कर उठे। हम अपने को परम भाग्यशाली मानने लगे। फिर हम लोग अपने कैम्प 'हर' की ओर चल पड़े। इससे पूर्व गुरला मान्धाता पर्वतश्रेणी के तुषाराच्छादित शिखरों के फोटो हमने खींचे थे। बरखा के मैदान से आगे चलकर हम अपने तम्बू पर पहुँचे। दूसरा दल कैलास-दर्शन के लिए बस द्वारा तारचेन कैम्प रवाना हुआ।

हर का विस्तृत मैदान पार कर हम लोग मानसरोवर के निकट स्नानार्थ पहुँचे। बर्फ पिघलकर जलधारा के रूप में सरोवर में मिल रही थी। उसमें मछलियों के छोटे-छोटे झुण्डों को देखकर बड़ा ही आनन्द आया। मछलियाँ आनन्दपूर्वक जलप्रवाह की विपरीत दिशा में तैर रही थीं, मानो सच्चिदानन्द-सागर में मस्त होकर विचरण कर रही हों।

मानसरोवर की परिक्रमा

सायंकाल तिब्बती घोड़ेवालों को लेकर ठेकेदार आया। उसने यात्रा का समय अगले दिन प्रातः पाँच बजे निर्धारित किया। यहाँ पर तो हमें अपने भोजन की व्यवस्था स्वयं करनी थी। दो प्रेशर कूकर में खिचड़ी बनाने में लगभग छः घण्टे लग गये। तदुपरान्त भोजन कर हम लोगों ने विश्राम के लिए शिविर में प्रवेश किया। आज से लेकर अगले नौ दिनों तक हमीं लोगों को अपने भोजन और नाश्ते की व्यवस्था करनी थी। ताकलाकोट जाते समय दो दिन और वापसी में तीन दिन भोजन, नाश्ता, चाय-काफी आदि का प्रबन्ध चीन सरकार की ओर से होना था।

हर में आबादी बहुत कम है। वहाँ लम्बे, बैठकनुमा बहुत से कमरे हैं। बाहर से देखने पर मिट्टी के बने हुए दीखते हैं, पर मजबूत बहुत हैं। चौदहवें दिन, ११ जुलाई को प्रातः पाँच बजे मानसरोवर की परिक्रमा के लिए रवाना हुए। आज हमें ३० किलोमीटर की दूरी तय करनी थी। कभी रास्ता सरोवर से लगकर जाता, तो कभी हट-कर। मार्ग ऊबड़-खाबड़ था। एक जगह भीषण खरस्रोता पहाड़ी नदी बह रही थी। घोड़ों पर सवार यात्री तो आसानी से उसे पार कर गये, पर पैदल यात्रियों को उस पार जाने के लिए उन घोड़ेवालों की बहुत मिन्नत करनी पड़ी। अन्त में घोड़ेवाले राजी हो गये और सब लोग नदी के पार पहुँच गये। तब तक तिब्बती कुली भोजन करने बैठ गये थे। रास्ते में उन्होंने मछलियों का जो शिकार किया था, वह आग में भूनकर खाया। चँवरी गाय के दूध से बने मक्खन के साथ रोटी खायी। हम लोगों ने भी अपने साथ लाया हुआ भोजन किया। एक तिब्बती कुली ने मुझे अपनी ओर

की चाय पिलायी। वह बहुत कड़वी थी। उसका स्वाद भी विचित्र था। मैंने मुश्किल से थोड़ी-सी चाय घुटकी। वह और देने लगा, पर मैंने पीने में असमर्थता व्यक्त की। अगर उसका निमंत्रण मैं स्वीकार न करता, तो वह क्रोधित हो जाता। एक तिब्बती के पास तो एक लम्बी-सी कटार थी, जो उसकी कमर से लटक रही थी। वहाँ से भोजन करके हम लोग आगे बढ़े और शाम को ५-३० बजे इयांगपो नामक स्थान पर पहुँचे। वहाँ दो तम्बू लगे थे—एक यात्रियों के लिए और दूसरा घोड़ेवालों के लिए। वहाँ से सरोवर का दिखाई देनेवाला भाग ठीक भारत के मानचित्र की भाँति दिखाई दे रहा था। दूर-दूर तक फैली हुई जलराशि सन्ध्या के मृदु-मन्द समीर के साथ मिलकर अत्यन्त ही मनोरम एवं रोमांचक वातावरण की सृष्टि कर रही थी। सूर्यास्त हो गया था। तम्बू से दस गज की दूरी पर सरोवर की लहरें आ-आकर तट से टकराकर वापस जा रही थीं, मानो प्रत्येक यात्री का स्वागत कर रही हों। तम्बू के अन्दर एक चूल्हे पर पानी गरम हो रहा था और दूसरे चूल्हे से ताप वितरण किया जा रहा था। रात्रि-भोजन से पूर्व सब यात्री मिलकर सत्संग करते थे। इसमें शिवस्तुति एवं हनुमान्-चालीसा का पाठ नियमित रूप से होता था तथा अन्य भजन-कीर्तन भी होते थे।

पन्द्रहवें दिन, १२ जुलाई को, हम इयांगपो से आगे बढ़े। इसके आगे का परिक्रमा-पथ अपेक्षाकृत सरल है। आज हमें २५ किलोमीटर का फासला तय करना था। सरोवर की सौन्दर्य-छटा का पान करते हुए, भगवन्नाम का उच्चारण करते हुए हम लोग आगे बढ़ रहे थे। रास्ते में दो बौद्ध गुम्फा एकदम विपन्न अवस्था में लेकिन अपने

गौरवमय अतीत की गाथा को मूक स्वर में सुनाते हुए दीख पड़े। कुछ और आगे बढ़ने पर एक और गुम्फा मिली, जिसके एक छोटे से हिस्से में कई कमरों सहित एक बड़ा कमरा भी था, जो सरोवर से लगे हुए एक ऊँचे स्थान पर अवस्थित था। इसका भग्नावशेष इस बात का साक्षी है कि इस गुम्फा को किस तरह से अन्य सब बौद्ध विहारों के साथ, सांस्कृतिक क्रान्ति के नाम पर, चीन सरकार द्वारा गिराया गया है।

दोपहर के भोजन के पश्चात् हम लोग चेंगिट के लिए रवाना हुए। विस्तृत नील जलराशि पर मृदु-मन्द लहरियाँ अठखेलियाँ कर रही थीं, ऊपर नीलाकाश में पक्षियों के झुण्ड अपने धवल पंख हिलाते हुए उन्मुक्त विचरण कर रहे थे, सरोवर के निर्मल जल में क्रीड़ा करते हुए पक्षी कभी डुबकी लगाते तो कभी लहरों के साथ थिरक रहे थे, सामने शुभ्र तुषारमण्डित पवित्र कैलास शिखर अनन्त विस्तारित नील वितान के नीचे अपनी भव्यता में खड़ा था। ये सब मिलकर एक अपूर्व दृश्य प्रस्तुत कर रहे थे। हम लोग मंत्र-मुग्ध हो देखते रहे। शरीर का रोम-रोम खिल उठा और हम अपनी सुध-बुध खो बैठे शरीर मानो जड़ हो गया। कदम आगे नहीं बढ़ रहे थे। कुछ समय बाद होश आने पर सब अपना-अपना कैमरा खटखटाते हुए उन मनोरम दृश्यों को कैद करने लगे, मानो होड़-सी लग गयी। मैंने भी इस मनोमुग्धकारी छबि को अपने हृदयपटल पर अंकित कर लिया। आकाश में उड़नेवाले पक्षियों के पंख का अग्रभाग काले रंग की छटा लिये हुए था तथा पंख का ऊपरी हिस्सा धूसर वर्ण का प्रतीत होता था। दूर से वे बगुले-जैसे लगते थे।

मानसरोवर के तट पर गुरुपूर्णिमा

चेटिंग में पहुँचने पर ५-६ बैरकनुमा कमरे मिले, जहाँ पर बिस्तरों की व्यवस्था की गयी थी। सभी बहुत थक गये थे, अतः चाय पीने के पश्चात् सब लोग लेटकर अपनी थकान दूर करने लगे। परन्तु मैं चुपचाप बाहर निकल आया और हाथ में लाठी ले अकेले ही सामने के पहाड़ पर चढ़ने लगा। कैलास पर्वत बादलों से आच्छादित था, अतः साफ दिखाई नहीं दे रहा था। मैं नीचे उतर आया। सन्ध्या हो रही थी। बहुत ठण्डी हवा चल रही थी। इस स्थान पर हमें पूरा एक दिन विश्राम करना था। अगले दिन १३ जुलाई को, यात्रा के सोलहवें दिन, गुरुपूर्णिमा के पुण्य पर्व पर पवित्र मानसरोवर में अवगाहन करके जन्म-जन्मान्तर के संचित पापों का मार्जन कर हम मुक्त होंगे इस भावना से सभी यात्री बड़े उत्फुल्ल थे।

१३ जुलाई को प्रातः ६ बजे शय्या का त्याग कर, नित्य कर्मों से निवृत्त हो, केवल चाय पी, क्योंकि गुरुपूर्णिमा की पूजा करनी थी। पूजन के लिए मेहसाना (गुजरात) से आये महन्त नारायणदासजी से बातचीत भी कर चुके थे। सब लोग सरोवर के तट पर पूजा-सामग्री लेकर पहुँच गये तथा स्नानादि कर पूजा के लिए बैठ गये। मैंने ११-३० बजे आकर स्नान किया तथा श्रीरामकृष्णदेव, माँ सारदा एवं स्वामी विवेकानन्दजी के फोटो सामने रखकर मानसिक रूप से मंत्रजाप करने लगा। फिर कैलास-मानसरोवर के प्रतीक के समक्ष पूजा-सामग्री द्वारा अर्चनादि करके मानसरोवर के तट पर गुरुपूर्णिमा के व्रत का पालन किया। तत्पश्चात् एक प्रस्तर-खण्ड पर कर्पूर प्रज्वलित करके आरती उतारी तथा सबको प्रसाद वितरित किया।

१२-३० बजे मध्याह्न के लगभग सूर्यनारायण बादलों की कैद से मुक्त हो पूरी तरह चमकने लगे। यह देख सबको अपार आनन्द हुआ। सबने उस मनोहारी दृश्य को अपने-अपने कैमरों में कैद कर लिया। हमने मानसरोवर का पवित्र जल संग्रहित कर बड़ी सावधानी से उसे सीलबन्द किया। तत्पश्चात् भोजन करके कुछ समय के लिए विश्राम किया। शाम को हवा बड़ी तेज थी, इसलिए अधिक घूमने का साहस नहीं कर पाये। कुछ देर तक भ्रमण करने के पश्चात् हम लोग अँधेरा होने से पहले ही कैम्प में लौट आये तथा एक घण्टे का समय सत्संग और भगवद्-भजन में व्यतीत किया। अर्धरात्रि में पूर्णिमा की स्निग्ध ज्योत्स्ना में सरोवर की छटा देखने के लिए हम लोग अपने तम्बुओं से बाहर निकल आये। चारों ओर शुभ्र तुषार ही तुषार दिखाई पड़ा। इस बीच में हिमपात हुआ था और ५-६ इंच हल्की रुई-जैसी बर्फ चारों ओर जम गयी थी। सरोवर का कुछ भाग भी बर्फ से आच्छादित दिखाई दे रहा था। चन्द्रमा की किरणें सरोवर की लहरों के साथ अठखेलियाँ कर रही थीं। अपूर्व शोभा थी।

मानसरोवर से तारचेन होकर कैलास

आज यात्रा का सतरहवाँ दिन है। १४ जुलाई, शनिवार। हमें चेंटिंग से तारचेन जाना है, क्योंकि तारचेन से कैलास-परिक्रमा प्रारम्भ होती है। बस को आज दोपहर १२ बजे आना था। पर अभी तक उसका कोई पता नहीं है। हम लोग भोजन से निवृत्त हो चुके हैं और बर्फ पर इधर-उधर घूमकर कैलास की मधुर छटा का अवलोकन कर रहे हैं। सफेद रुई-सी ४-५ इंच मोटी बर्फ चारों ओर जमी हुई है। कुछ दूरी पर स्थित गुम्फाओं के भग्नावशेष

भी बर्फ से ढके हुए हैं। आजकल तिब्बती लोगों को इन गुम्फाओं के जीर्णोद्धार के लिए चीनी सरकार से सहायता भी मिल रही है। हर तिब्बती घोड़ेवाले की टोपी पर दलाईलामा का फोटो लगा रहता है। वर्तमान सरकार ने अपेक्षाकृत उदार धार्मिक नीति का अनुसरण किया है। सरकार को कर देने के पश्चात् जनता अपने व्यक्तिगत सुख के लिए कुछ सम्पत्ति आदि का भी संचय कर सकती है। जनता खुश नजर आ रही थी। खेती का भी विस्तार हुआ है। नये भवनों का भी निर्माण हुआ है। यह प्रदेश प्रगति करता हुआ-सा प्रतीत होता है। सामाजिक तथा अर्ध-सामाजिक प्रतिष्ठानों की भरमार दिखाई देती है।

बस एक घण्टा विलम्ब से आयी। सब यात्री उसमें बैठ गये। बस बर्फ के ऊपर ही तीव्र गति से चल पड़ी। बरखा नामक स्थान में बस कुछ देर रुकी। यह एक छोटा-सा मोहल्ला-सा है, जो एक परकोटे से घिरा है। उसमें एक बहुत बड़ी दुकान भी है, जहाँ से हमने बहुत सारे रूमाल आदि खरीदे। अन्य कुछ सामान भी खरीदा। वहाँ से चलने पर गंगछू नदी मिली, जिसका दूसरा नाम झंगछू भी है। यह मानसरोवर के जल को राक्षसताल तक ले जाती है। इसे पार कर हम लोग तारचेन पहुँचे। पहला दल वहाँ पर इन्तजार कर रहा था। सब लोगों ने अपनी-अपनी कठिनाइयों का वर्णन किया, परिक्रमा आदि के बारे में बताया। तत्पश्चात् प्रथम दल के यात्रीगण बस में बैठकर 'हर' चले गये। हम सब भी अगले दिन प्रातःकाल से शुरू होनेवाली कैलास-परिक्रमा की तैयारी में लग गये।

तारचेन से कैलास की परिक्रमा की शुरूआत

अपनी यात्रा के अठारहवें दिन, रविवार, १५ जुलाई

को सूर्योदय से पूर्व ही हम लोग पाँच याक, दो 'नावा' एवं तीन तिब्बती कुलियों के साथ रवाना हुए। नावा याक की आकृति का एक पशु है, जिसके सींग नहीं होत। मैं तथा दो यात्री सवारी पर बैठे। बाकी याक पर सामान लादा गया। थोड़ी देर बाद सूर्योदय हो गया। पहाड़ी रास्ते की पहचान केवल पहाडी लोगों को ही है।

चँवरी गाय की पूँछ के लम्बे-लम्बे बाल घुटन तक लटक रहे थे। उनका कद छोटा होता है, सींग भैंस के जैसे होते हैं। नावा के सींग नहीं होते। एक अन्य भारवाही पशु झुब्बू के नाम से जाना जाता है। मार्ग में दो और बौद्ध गुम्फाओं के भग्नावशेष दिखाई दिये। करीब ८ किलोमीटर चलने के बाद कैलास का बहुत ही सुन्दर दृश्य दिखाई दिया। २४ किलोमीटर की दूरी तय करने के बाद हम लोग ३-३० बजे झिरपी नामक स्थान पर पहुंचे और वहाँ तम्बुओं में आश्रय लिया। लाछू नदी के तट पर खुली जगह में तम्बू लगाये गये थे। यहाँ पर कई यात्रियों ने तिब्बती पोशाक पहनकर फोटो खिचवाये। रात में तनिक भी नींद नहीं आयी।

जुटुलफुट होकर गौरीकुण्ड और दोलमा-ला

आज यात्रा का उन्नीसवाँ दिन है। सोमवार, १६ जुलाई। प्रातः ६ बजे हम लोग झंगुपु अर्थात् जुटुलफुक कैम्प के लिए निकल पड़े। २१ किलोमीटर का यह रास्ता सबसे कठिन है। इसके आगे है दोलमा पास, जो १८,६०० फुट ऊँचा है। उसके १,००० फुट नीचे है गौरीकुण्ड, जहाँ पर सती पार्वती ने शिवजी को पाने के लिए तप किया था। दोलमा पहुंचने पर कैलास का बहुत ही निकट से दर्शन हुआ। गौरीकुण्ड के पास ३ और जलाशय हैं। एक स्थान

पर कैलास पर्वत से बर्फ की चट्टानें, पत्थर आदि जलप्रपात की भाँति गिरते हैं। भीषण आवाज से उधर के लोग घबराते हैं। विशेषकर जब बर्फ फटती है, उस समय डायनामाइट के विस्फोट-सी आवाज होती है। इस पर तिब्बती लोग हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं। उनका विश्वास है कि शिवजी के भूत-प्रेत पत्थर फेंककर उधर जानेवाले लोगों को डराते हैं, जिससे लोग आगे बढ़कर शिवजी की तपस्या में विघ्न न डालें। यहाँ तक कि कैलास के मूल देश में भी वे जाने को तैयार नहीं होते हैं। अविराम भीषण गर्जन करती हुई बर्फ पिघलकर सीधे १,००० फुट नीचे गिरती है। यहाँ पर पर्वत सीधा दण्डायमान है। तीन यात्री गौरीकुण्ड में पूजन करने एवं जल लाने को नीचे उतर गये। हम लोग धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगे। कुली और याक पहले ही आगे चल दिये थे। गौरीकुण्ड में उतरनेवाले यात्री अपने साथ एक प्रकार की जंगली घास कपड़े में बाँधकर ले आये थे। दोलमा पास के निकट आने पर उन्होंने वह घास नीचे पत्थर पर रख दी। कोई-कोई यात्री उसे सूँघने लगे। आक्सीजन की कमी के कारण जब श्वास-कष्ट होता है, तो इस घास को सूँघने से कुछ आराम मिलता है। वहाँ पर्वत एकदम नग्न है, कहीं कुछ भी हरियाली दिखायी नहीं देती।

दोलमा-ला से ग्लेशियर पर से होकर उतराई

हम लोग १९,००० फुट की ऊंचाई पर पहुंच चुके थे। अब उतराई की बारी है। लगभग १,६०० फुट लम्बे ग्लेशियर पर से चलना पड़ा। छोटे-बड़े पत्थरों पर से बहुत मुश्किल से आगे बढ़ा जा रहा था। उसके नीचे से जल प्रवाहित हो रहा था। थोड़ा आगे बढ़ने पर किंचित्

समतल भूमि देखकर सब लोग पत्थर का सहारा लेकर बैठ गये। कोई कोई यात्री आराम करने के लिए लम्बे होकर लेट भी गये। शाम को झंगुपु कैम्प में पहुंचकर देखा हम लोगों के उपयोग के लिए दिये हुए गद्दे बिलकुल भींग चुके हैं। उसी पर शाल, चादर आदि बिछाकर किसी तरह स्लीपिंग बैग के भीतर घुस गये। बहुत थक गये थे। थोड़ा-सा भजन एवं भोजन के पश्चात् निद्रादेवी का आह्वान करने लगे। रात में वर्षा होने लगी।

कैलास-परिक्रमा के रास्ते में तीन नदियाँ पड़ती हैं। उनका नाम दोरजी ने इस प्रकार बताया––त्रिशूल छोटा, त्रिशूल बड़ा, कैलास बड़ा ('लार्मजिग पहाड़ी')।

वापस मानसरोवर के चेंटिग में

यात्रा के बीसवें दिन, मंगलवार, १७ जुलाई को हम लोग प्रातः९ बजे रवाना हुए। आज की यात्रा उतनी कठिन नहीं थी। दो-चार जगहों पर थोड़ी-बहुत कठिनाइयाँ आयीं। मार्ग में एक तिब्बती दम्पति मिले, जो दण्डवत् होकर कैलास-परिक्रमा कर रहे थे। आज हमें १४ किलो-मीटर चलकर तारचेन कैम्प में विश्राम करना था और कल बस से चेंटिग होते हुए ताकलाकोट पहुँचना था। कैम्प के बाहर हम लोगों के लिए बस खड़ी हुई थी और चीनी अधिकारियों के लिए जीप। करुणामय कैलासपति की कृपा से कैलास एवं मानसरोवर की परिक्रमा सानन्द सम्पन्न हुई। यहाँ पर एक यात्रीदल जापान से आया हुआ था। उनके साथ एक ट्रक पर तम्बू आदि एवं टी.वी. कैमरा सेट भी थे। उस दल में एक महिला यात्री भी थी। सबने एक दूसरे को नमस्कार किया एवं शुभकामनाएँ दीं। भोजन में कुछ विलम्ब था, इसलिए लोग इधर-उधर टहलने लगे।

अचानक ही पास के किसी कमरे से डमरू तथा घण्टे की मधुर ध्वनि कानों में पड़ने लगी। आश्चर्यचकित हो कमरे में झाँककर देखा तो एक वयस्क लामा पूजा कर रहा था। छोटा-सा था वह पूजाघर। अन्दर जाना मना था। दोरजी किसी वस्तु पर नशीले तरल पदार्थ को घोलकर लड्डू-जैसा पिण्ड बना रहे थे। वे अच्छी हिन्दी बोल सकते थे। चीनी प्रतिनिधि मि. सुईंग के साथ वे भी दुभाषिये और पथ-प्रदर्शक का कार्य कर रहे थे। उनसे अनुरोध करने पर उन्होंने लामाजी से अनुनय कर हम लोगों को अन्दर जाने की अनुमति दिला दी। एक छोटे से प्रकोष्ठ में एक किनारे पर कुछ फोटो और बहुतेरी मूर्तियाँ रखी थीं। उनके सामने पीतल के छोटे-छोटे पाँच प्रदीप जल रहे थे। ताँबे की कटोरी में चावल रखे हुए थे। लामा के सामने एक छोटी चौकी पर दीर्घाकार प्राचीन ग्रन्थ रखा था। एक और प्रदीप भी जल रहा था। लामा बाँयें हाथ से डमरू तथा दाहिने से घण्टी बजाता हुआ सुमधुर स्वर में उस ग्रन्थ से पाठ कर रहा था। सौम्यमूर्ति यह बौद्ध लामा खोजरनाथ गुम्फा का अन्तेवासी था,जहाँ हम लोग दो दिन बाद जाने-वाले थे। पूजा के पश्चात् वह अर्घ्य लेकर बाहर आया और कैलास की ओर दृष्टि निबद्ध कर उसने हाथ जोड़कर प्रणाम किया तथा अर्घ्य निवेदित किया। तत्पश्चात् भूमि पर मस्तक रखकर प्रणाम किया और पूजा समाप्त की। उसने निवेदित कुछ अर्घ्य सामग्री चारों दिशाओं में फेंक दी। इसके बाद उसने हम लोगों के लिए प्रसाद भेजा। वह सत्तू के पिण्ड के समान था। उसे तोड़कर जरा-सा मुंह में डाला तो एक प्रकार की शराब की गन्ध आयी। कोई भी तीर्थयात्री उसे ग्रहण करने को तैयार नहीं हुआ। साथ

में दी गयी टाफी लेकर ही हम सन्तुष्ट हो गये। लामा के साथ हम लोगों ने ग्रुप फोटो लिया। वहाँ का दृश्य अत्यन्त सुन्दर था। दूध-जैसे उजले कैलास शिखर के पीछे उन्मुक्त नीलाकाश और विपरीत दिशा में उच्च पर्वतमाला के शिखर पर धवल तुषारराशि तथा नीचे मानसरोवर की नील जलराशि। पिघलती हुई बर्फ को देखकर ऐसा लगता था मानो कोई चाँदी की खान पिघलकर सारे पर्वत को ही रजतमय किये दे रही है।

अलविदा मानसरोवर

आज यात्रा का बीसवाँ दिन है। बुधवार, २८ जुलाई। बस से हम लोग चेटिंग के लिए रवाना हुए और वहाँ १२ बजे दोपहर को पहुंच गये। प्रथम दल हमारी प्रतीक्षा ही कर रहा था। चेटिंग में हमें एक घण्टे का समय मिला। कुछ लोगों ने पुनः मानसरोवर के पवित्र जल में अवगाहन किया। कुछ ने केवल आचमन आदि किया। हम सबने छोटे-छोटे पत्थरों का संग्रह किया और बस में बैठकर ताकलाकोट के लिए चल पड़े। खेलो नामक एक तिब्बती गाँव में बस देर तक रुकी रही, क्योंकि वहाँ पर ड्राइवर और परिचालक का मकान था। करीब ६,००० की आबादी वाले इस गाँव में एक स्कूल भी है, जिसमें चीनी तथा तिब्बती दोनों भाषाओं के माध्यम से शिक्षा दी जाती है। सायं ५ बजे के लगभग हम लोग ताकलाकोट विश्राम भवन में पहुँच गये। चाय पीने के पश्चात् थोड़ी देर इधर-उधर टहल आये।

यात्रा के इक्कीसवें दिन, २९ जुलाई को, प्रातः नाश्ता करके हम लोग २५ किलोमीटर दूर खोजरनाथ गुम्फा के लिए बस में रवाना हुए। यह गुम्फा करनाली नदी के तट

पर स्थित है। साथ में मि. सुईंग और दोरजी भी थे। लगभग १२ बजे गुम्फा में प्रवेश किया। यहाँ पर ४०० लामाओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था है, पर वर्तमान में यहाँ १३ लामा ही निवास कर रहे थे। यहाँ पर स्थापित भगवान् बुद्ध की मूर्ति को मंजुघोष अथवा 'जगवियाँग' के नाम से जाना जाता है। मूर्ति का मुखमण्डल स्वर्णमण्डित है। प्रधान लामा की आयु ८० के ऊपर है। वर्तमान सरकार ने इनको आर्थिक सहायता भी दी है। भवन का पोताई-कार्य चल रहा था। यहाँ की गुम्फा के बारे में एक कहानी प्रचलित है। जम्मू-काश्मीर के प्रधान सेनापति जनरल अमरसिंह ने कुछ सैनिकों के साथ ताकलाकोट पर आक्रमण कर दिया। वे लोग अत्यन्त वीरता के साथ लड़ाई करते-करते आगे बढ़ रहे थे। तिब्बती सेना उनका सामना न कर सकी और मैदान छोड़कर भाग खड़ी हुई। तिब्बती भयभीत हो गये। उन्हें लगा कि काश्मीर का सेनापति देवबल से ही इतना बलशाली है, इसलिए उसको जीतना कठिन है। इस युद्ध में तिब्बती सेना के असंख्य लोग हताहत हुए। इसलिए ताकलाकोट के राजा को बडी ग्लानि हुई और उसने इस युद्ध में विजय पाने के लिए इस गुम्फा के निर्माण की मनौती मानी। उसके बाद जब काश्मीरी सेना ताकलाकोट के दुर्ग पर चढ़ाई कर रही थी, उस समय पुनः बल पाकर असंख्य तिब्बती सेनानियों ने उस छोटी-सी सेना को घेर लिया और उसे मारकर खदेड़ दिया। पर इस लड़ाई में जनरल अमरसिंह वीरगति को प्राप्त हुआ। ताकलाकोट का राजा अपने शत्रु-सैन्य के इस सेनापति अमरसिंह के शौर्य से इतना प्रभावित हुआ कि उसने उसकी स्मृति में एक सौध बनवा दिया। यह घटना विश्व के

इतिहास में बेजोड़ है।

ताकलाकोट का राजा जब इस गुम्फा (बौद्ध विहार) के निर्माण की योजना पर विचार कर रहा था, तभी एक दिन उसके दरबार में सात साधु आये और कहा कि हमारे पास सात चाँदी के घड़े हैं, आप इनको अपने पास अमानत के रूप में रख लें। यदि हम तीन दिन में वापस न आ सकें, तो यह सारा धन आपका है और आप इसे अपनी इच्छानुसार व्यय कर सकते हैं। वे सन्त फिर वापस नहीं आये और राजा ने वह धन बौद्ध विहार के निर्माण में लगाने का संकल्प किया।

भगवान् तथागत की ताम्रमूर्ति बनकर तैयार हो चुकी थी। मूर्तिकार उसे लेकर शोभायात्रा में राजधानी की ओर चल रहा था कि एक जगह आकर मूर्ति काले पत्थर से टकराकर रुक गयी। वहीं पर देववाणी हुई—'मुझे यहीं पर प्रतिष्ठित कर दो।' लोगों ने मूर्ति को वहाँ से हटाने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु वे लोग मूर्ति को आगे नहीं ले जा सके। वह पत्थर आज भी उसी स्थान पर मूर्ति के समक्ष विद्यमान है।

करनाली नदी के उस पार नेपाल राज्य की सीमा है। नेपाल से बहुत से चरवाहे भेड़-बकरी लेकर यहाँ पर आते हैं और २-४ दिन बाद वापस लौट जाते हैं। बिक्री हेतु जानवरों को ताकलाकोट बाजार में भी ले जाते हैं।

१८,६००० फुट की ऊँचाई पर स्थित इस खोजरनाथ गुम्फा में हम लोग एक घण्टे से भी ज्यादा रहे। बहुत सारे फोटो खींचे। गाँव में घूमे। ताकलाकोट दुर्ग के नीचे सिमलिंग (सम्भवत: शिवलिंग का अपभ्रंश) गुम्फा आज भी अपनी प्राचीन समृद्धि और गौरव का परिचय दे रही है।

बहुत से गरीब परिवार आज भी छोटी-छोटी गुम्फाओं के अन्दर बसे हुए हैं। गुम्फा के प्रवेश-द्वार पर पर्दा डाल रखा है। चीनी प्रतिनिधि ने सिमलिंग गुम्फा के लिए 'छू मॉनेस्टरी' (Chu Monastery) नाम बताया तथा मैंने चीनी भाषा में 'तु-चीचु' (धन्यवाद) दिया।

हम लोग घूम-घामकर विश्राम भवन लौट आये। रात्रि में भोजन के उपरान्त एक चीनी फिल्म का प्रदर्शन किया गया। फिल्म थी तो कलात्मक, पर मारधाड़ से भी भरपूर थी। पुरानी जमींदारी व्यवस्था के विरोध में एक शोषित परिवार की लड़ाई की कहानी थी।

यात्रा के बाईसवें दिन, २० जुलाई की सुबह नाश्ता करके सहकारी दुकान पर सामान खरीदने गये। वहाँ तीन दुकानें थीं, जिनमें सब प्रकार का सामान उपलब्ध था। जिनके पास कुछ विदेशी मुद्रा बची थी, उसे वापस करने वे पीपुल्स बैंक गये। दूसरे दिन भोर ५ बजे अँधेरे में ही यात्रा प्रारम्भ करनी थी। सबके लिए घोड़े-खच्चर आ गये थे। करीब चालीस घोड़ों पर सवारियाँ और समस्त सामान लादकर यह यात्री दल २१ जुलाई को अपनी यात्रा समाप्त कर भारतीय सीमा की ओर लौट चला। ६-७ चीनी अधिकारी मूवी कैमरा, वीडियो फिल्में लेकर यात्रा-पथ के बीच में और अन्त में शूटिंग करते चल रहे थे। लिपुलेख पर ग्लेशियर का विस्तार हो चुका था और घोड़ों की टाँगें बर्फ में २-२, ३-३ फुट अन्दर धँसी जा रही थीं। उसके बाद एक किलोमीटर की बड़ी खतरनाक चढ़ाई थी। हमें घोड़ों से उतर जाना पड़ा और पैदल इस चढ़ाई को पार करना पड़ा। अन्त में हम भारतीय सीमा में पहुँच गये। वहाँ पर यात्रा पर जानेवाले तीसरे यात्री दल से हमारी

भेंट हुई। लिपुलेख से दिल्ली वापस आने में फिर दस दिन लगे और इस प्रकार कैला-मानसरोवर की अविस्मरणीय यात्रा पूरी हुई।

(समाप्त)

ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता

(गीताध्याय ४, श्लोक ३१-३८)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

कुरुसत्तम (हे कुरुश्रेष्ठ) यज्ञशिष्टामृतभुजः (यज्ञावशिष्ट-रूप अमृत का भोजन करनेवाले) सनातनं (सनातन) ब्रह्म (ब्रह्म को) यान्ति (प्राप्त होते हैं) अयज्ञस्य (यज्ञरहित पुरुष का) (अयं) यह लोकः (लोक) न (नहीं) अस्ति (है) अन्यः (दूसरा, परलोक) कुतः (कहाँ है)।

"हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञों के अवशिष्ट रूप अमृत का ग्रहण करनेवाले (योगीजन) सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं। यज्ञ न करनेवाले पुरुष के लिए तो यह मनुष्यलोक ही नहीं है, फिर परलोक कैसे हो ?"

पूर्व के श्लोकों में यज्ञों के प्रकार बताये गये और उन यज्ञों के करनेवाले साधकों की प्रशंसा की गयी। अब यहाँ पर यज्ञों के करने से होनेवाले लाभ और नहीं करने से होनेवाली हानि दिखलाकर भगवान् कृष्ण यज्ञ की कर्तव्यता प्रतिपादित करते हैं। वे कहते हैं कि 'यज्ञशिष्टामृतभोजी' सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

'यज्ञशिष्टामृत' का अर्थ होता है 'यज्ञ का अवशिष्टरूप अमृत'। देवताओं के निमित्त अग्नि में घृतादि पदार्थों का हवन करना यज्ञ कहलाता है और उससे बचा हुआ हविष्यान्न ही यज्ञशिष्ट अमृत है। इसी प्रकार स्मृति शास्त्रों में पंचमहायज्ञ की महिमा गायी गयी है, जहाँ कहा है कि देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और अन्य प्राणिमात्र के लिए यथाशक्ति अन्न की व्यवस्था कर देने के बाद जो अन्न बचे, वह यज्ञशिष्ट अमृत है। 'मनुस्मृति' में हम पढ़ते हैं—'विघसं भुक्तशेषं तु यज्ञशेषमथामृतम्' (३/२८५) अर्थात् अतिथि आदि के भोजन कर चुकने पर जो बचे, उसे 'विघस' और यज्ञ करन से जो शेष रहे, उसे 'अमृत' कहते हैं। इस प्रकार स्मृतिकारों ने प्रत्येक गृहस्थ को नित्य 'विघशासी' (विघस खानेवाला) और 'अमृताशी' (अमृत खानेवाला) होने के लिए कहा है। फिर कई लोग देवता को नैवेद्य लगाकर प्रसाद ग्रहण करते हैं। यह भी एक प्रकार से पूजन-यज्ञशेषरूप अमृत का ग्रहण कहा जा सकता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि ठीक है, जो द्रव्यमय यज्ञ हैं, जिनका अन्न के साथ सम्बन्ध है, वहाँ तो यज्ञशिष्ट के रूप में अन्न रहता है, जिसका भक्षण किया जा सकता है। पर भगवान् ने तो ऊपर में ज्ञान, संयम, तप, स्वाध्याय, प्राणायाम आदि के रूप में ऐसे कई यज्ञ बतलाये हैं, जिनका अन्न के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। ऐसी दशा में 'यज्ञशिप्टामृतभोजी' का क्या तात्पर्य हो सकता है? इसके उत्तर में कुछ व्याख्याकार कहते हैं कि ऐसे यज्ञों के अनुप्ठान से, जिनमें अन्न का सम्बन्ध नहीं है, जो समय बचे, उसमें निषिद्ध पदार्थों को छोड़ भोजन कर लेना यही

उपर्युक्त शब्द का अर्थ है। अर्थात् उनके मत से, यहाँ पर 'शिष्ट' पद से अन्न न लेकर समय लेना चाहिए। आचार्य शंकर यहाँ पर अपने भाष्य में कहते हैं--'यथोक्तान् यज्ञान् कृत्वा तच्छिष्टेन कालेन यथाविधि चोदितम् अन्नम् अमृताख्यं भुंजते इति यज्ञशिष्टामृतभुजः' --अर्थात् 'उपर्युक्त यज्ञों को करके उससे बचे हुए समय द्वारा यथाविधि प्राप्त अमृतरूप विहित अन्न का भक्षण करनेवाले यज्ञशिष्ट-अमृतभोजी पुरुष हैं।'

इससे पुनः एक प्रश्न उठता है--क्या व्यक्ति सारे समय यज्ञ ही करता रहेगा? उसके लिए दुनिया का क्या कोई काम नहीं रहता? यदि अपना सारा समय यज्ञ में लगानेवालों के लिए ही यह उपदेश हो, तो गीता मात्र इने-गिने लोगों के ही काम की रहेगी। अतः 'यज्ञशिष्ट' की व्याख्या अधिक व्यापक होनी चाहिए।

एक महात्मा कहा करते थे कि उपर्युक्त विभिन्न यज्ञों के करनेवाले इस उद्देश्य से यज्ञ करते हैं कि उनका चित्त शुद्ध हो, जिससे वे परमात्मा की प्राप्ति कर सकें। अतः इन यज्ञों का चित्तशुद्धिरूप जो फल है, वही 'यज्ञशिष्ट-अमृत' है। वह अन्तःकरण में 'प्रसाद' उत्पन्न करता है, जैसा कि गीता कहती है--'आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसाद-मधिगच्छति' (२/६४) अर्थात् अन्तःकरण को वश में रखनेवाला पुरुष 'प्रसाद' को, अन्तःकरण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है। शुद्धचित्त व्यक्ति ही अन्तःकरण को अपने वश में रख सकता है। अतः यज्ञों का फल यही चित्त की प्रसन्नता है; यह अमृत है और इन यज्ञों के करनेवाले योगीजन ऐसे अमृत का उपभोग करते हैं।

फिर कहा कि ऐसे यज्ञशिष्टामृतभोजी लोग सनातन

ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। ब्रह्म के साथ 'सनातन' विशेषण लगाने का तात्पर्य यह हो सकता है कि स्वर्ग आदि विनाशी लोक ब्रह्म के अपररूप माने गये हैं; और जो ब्रह्म का पर-रूप है, वह चिरन्तन और अपरिणामी है। जब यज्ञ सकाम-भाव से किये जाते हैं, तो यज्ञकर्ता स्वर्गादि को प्राप्त होता है, जहाँ से पुण्यों के क्षीण होने पर वह फिर से मर्त्यलोक में आता है। पर जब यज्ञों का अनुष्ठान निष्काम भाव से, भगवत्प्रीत्यर्थ होता है, तो साधक ब्रह्म के उस सनातन और अविनाशी भाव को प्राप्त होता है, जहाँ से आवागमन और नहीं होता।

श्लोक के दूसरे चरण में यज्ञ न करनेवाले की निन्दा की गयी है। कहा गया है कि ऐसे व्यक्ति का जब इहलोक ही नहीं सधता, तो परलोक क्या सधेगा? हम कह चुके हैं कि 'यज्ञ' का मूल तात्पर्य स्वार्थ-त्याग से होता है। इसका विस्तार से विवेचन हम तीसरे अध्याय के ९ से १६ तक के श्लोकों की चर्चा के अन्तर्गत कर चुके हैं। यज्ञ करना वस्तुतः स्वार्थ के त्याग की ही साधना है। 'अयज्ञः' वह है, जो स्वार्थ-त्याग की साधना नहीं करता। हम देखते हैं कि जो व्यक्ति स्वार्थी होते हैं, उनका परिवार के साथ भी सम्बन्ध ठीक नहीं रह पाता। वे परिवार के ही काम में नहीं आ पाते, फिर समाज और देश की बात तो दूर रहे। ऐसे व्यक्ति केवल अपने लिए जीते हैं। गीता में ऐसे ही लोगों के लिए कहा गया है—'भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्' (३/१३), अर्थात् जो पापी लोग केवल अपने लिए पकाते हैं, वे पाप को ही खाते हैं। इसी दृष्टि से यहाँ पर कहा गया कि यज्ञ न करनेवाले, स्वार्थ-त्याग की साधना न करनेवाले लोग जब अपना यह संसार

ही नहीं सुधार पाते, तो परलोक क्या सुधारेंगे ?

इसे दूसरे प्रकार से भी समझ सकते हैं। यज्ञ हैं शुभ कर्म, शास्त्रविहित कर्म, और शुभ कर्मों का फल इहलोक में भी सुख देता है तथा परलोक में भी। यह तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है। अच्छे कर्म करनेवाला व्यक्ति परिवार में, समाज में, देश में प्रतिष्ठा पाता है। शुभ कर्मों के द्वारा वह अपना परलोक भी बना लेता है। पर जो 'अयज्ञ:' है, शुभ कर्म करनेवाला नहीं है, वह इस संसार में ही अपने किये का फल पाता है। वह लोगों की निन्दा का पात्र होता है। जब वह अपना इहलोक ही बिगाड़ लेता है, तब पर-लोक उसके लिए बिगड़ा ही हुआ है।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।।३२।।

एवं (ऐसे) बहुविधा: (बहुत प्रकार के) यज्ञा: (यज्ञ) ब्रह्मण: (ब्रह्म की, वेद की) मुखे (वाणी में) वितत: (विस्तार किये गये हैं) तान् (उन) सर्वान् (सबको) कर्मजान् (कर्म से उत्पन्न होनेवाले) विद्धि (जान) एवं (इस प्रकार) ज्ञात्वा (जानकर) विमोक्ष्यसे (पूरी तरह मुक्त हो जाएगा)।

"इस प्रकार के और भी बहुत से यज्ञ वेद की वाणी में विस्तार से कहे गये हैं। उन सबको तू कर्म से उत्पन्न जान। इस प्रकार (उनके तत्त्व को) जानकर (उनके अनुष्ठान द्वारा) तू (कर्म-बन्धन से) सर्वथा मुक्त हो जाएगा।"

यहाँ बता रहे हैं कि ऐसे बहुत से यज्ञों का वर्णन वेदों में विस्तार से किया गया है। यहाँ 'ब्रह्म' शब्द ब्रह्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, और वेद ब्रह्मा के मुख से निकले

माने जाते हैं। पहले भी, तीसरे अध्याय के १५वें श्लोक में, 'कर्म ब्रह्मोद्भवं' (कर्म वेद से उपजा है) कहा गया है तथा उससे पहले के श्लोक में बताया है—'यज्ञः कर्मसमुद्भवः (यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होता है)। अपने ४८वें गीताप्रवचन में हमने विस्तार से इस पर चर्चा की है। यहाँ पर भी कह रहे हैं कि ये यज्ञ कर्मज हैं, क्रिया से उत्पन्न होते हैं। भगवान् भाष्यकार 'कर्मजान्' शब्द पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—'कायिकवाचिकमानस-कर्मोद्भवान्' (तन, वचन और मन की क्रिया द्वारा होनेवाले)। तात्पर्य यह कि जितने यज्ञों का वर्णन हुआ है तथा और भी जितने यज्ञों की बात वेदों में कही गयी है, वे सारे के सारे या तो मानसिक क्रिया से उत्पन्न होते हैं, अथवा मानसिक और वाचिक यानी ऐन्द्रिक क्रियाओं के योग से, या फिर मन, इन्द्रिय और शरीर तीनों के योग से। आत्मा इनसे सर्वथा भिन्न है। ऐसा बोध हमारे भीतर कर्तापन के अहंकार को नहीं आने देता। वास्तव में कर्म का बन्धन कर्म के द्वारा नहीं लगता, अपितु कर्म करने-वाले का कर्तापन इस बन्धन का हेतु होता है। ईशावास्यो-पनिषद् में भी कहा गया है—'न कर्म लिप्यते नरे' (२), कर्म मनुष्य पर अपना लेप नहीं डालता, कर्म जाकर मनुष्य से नहीं चिपकता, बल्कि मनुष्य की आसक्ति ही कर्म को उससे चिपका देती है।

अर्जुन के मन में यज्ञों का वर्णन सुनकर प्रश्न उठा होगा कि ये यज्ञ भी तो आखिर क्रियाएँ ही हैं, और क्रियाएँ कर्ता को ब्रह्म की प्राप्ति कैसे करा सकती हैं? इसके समा-धान हेतु प्रस्तुत अध्याय के १९वें से २३वें श्लोक तक भगवान् ने अर्जुन को वह रसायन दिया है, जिससे युक्त होकर कर्म करने पर कर्म बन्धन कारक नहीं रह जाते और

२४वें श्लोक में उन्होंने उस चरम लक्ष्य का वर्णन है, जिसकी प्राप्ति कर्मयोगी करता है। अब उसके बाद कई प्रकार के यज्ञों का वर्णन कर पुनः भगवान् कृष्ण अर्जुन के इस संशय को दूर करने के लिए कहते हैं कि यज्ञों का उपर्युक्त प्रकार से स्वरूपतः—तत्त्वतः—ज्ञान कर्मजनित बन्धन को कर्ता पर लगने नहीं देता और भगवत्प्रीत्यर्थ किये जाने पर ये यज्ञ क्रमशः उसके चित्त की शुद्धि का कारण बन सनातन ब्रह्म की प्राप्ति करा देते हैं तथा इस प्रकार उसे संसार-बन्धन से सर्वथा मुक्त कर देते हैं। यदि यज्ञों के, कर्मों के पीछे ऐसा ज्ञान न हो, तो फिर वे बन्धन-कारक हो जाते हैं। अतएव ज्ञान की महत्ता सर्वोपरि है। यही बात अगले श्लोक में कही जाती है।

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।३३।।

परंतप (हे शत्रुतापन) द्रव्यमयात् (द्रव्यों से सिद्ध होनेवाले) यज्ञात् (यज्ञ से) ज्ञानयज्ञः (ज्ञानरूपयज्ञ) श्रेयान् (श्रेष्ठ है) पार्थ (हे पार्थ) अखिलं (निरवशेष) सर्वं (सारे) कर्म (कर्म) ज्ञाने (ज्ञान में) परिसमाप्यते (परिसमाप्त होते हैं)।

"हे परन्तप, द्रव्यों (सांसारिक वस्तुओं) से सिद्ध होने-वाले यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ (सब प्रकार से) श्रेष्ठ है, (क्योंकि) सारे कर्म, निःशेष रूप से, ज्ञान में (ही) पराकाष्ठा को प्राप्त होते हैं।"

द्रव्यमय यज्ञ वे हैं, जिनमें सांसारिक वस्तुओं की प्रधानता होती है। अग्नि में आहुति देकर जो यज्ञ किये जाते हैं, वे सब के सब द्रव्यमय हैं। उसी प्रकार दान देना, परोपकार के लिए कुआँ, बावली, तालाब, धर्मशाला आदि

बनवाना--यह सब द्रव्यमय यज्ञ है। ज्ञानयज्ञ में किसी द्रव्य की आवश्यकता नहीं होती, वहाँ तो केवल विवेक, आत्मसंयम और आध्यात्मिक ज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाले साधन होते हैं।

द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ को श्रेष्ठ कहने का तात्पर्य यह है कि प्रथम में स्वाभाविक रूप से जो फलभोग की भावना, कर्तापन का अहंकार और सांसारिक द्रव्यों के प्रति आसक्ति मनुष्य में रहती है, उसका त्याग करना पड़ता है और उसे ईश्वरप्रीत्यर्थ का भाव लेकर करना पड़ता है, तब कहीं द्रव्यमय यज्ञ कर्ता के चित्त की शुद्धि का कारण बन उसे परमार्थतत्त्व के ज्ञान की ओर आगे बढ़ाता है, अन्यथा वह उलटा ही बन्धनकारक फल उत्पन्न करता है। पर ज्ञानयज्ञ के साथ यह जोखिम नहीं है। उसमें तो प्रारम्भ से ही विवेक-विचार और आत्मसंयम की प्रधानता होती है। ज्ञानयज्ञ में लगे हुए साधक विषयों का स्वरूप से ही नहीं, रूप से भी त्याग करते हैं। अतः ज्ञानयज्ञ ज्ञानप्राप्ति का साक्षात् साधन है। इसीलिए उसे द्रव्यमय यज्ञ से सब प्रकार से श्रेष्ठ कहा है।

यहाँ पर किसी के मन में प्रतिक्रिया उठ सकती है कि जब ज्ञानयज्ञ अन्य द्रव्यमय यज्ञों की अपेक्षा श्रेष्ठ है, तो फिर ज्ञानयज्ञ ही क्यों न किया जाय? इसका उत्तर यह है कि सब लोग प्रारम्भ से ही ज्ञानयज्ञ की पात्रता नहीं रखते, उन्हें फलासक्ति छोड़कर द्रव्यमय यज्ञ करते हुए यह पात्रता अर्जित करनी पड़ती है। इसमें निराश या हताश होने की कोई बात नहीं, क्योंकि, जैसा कि भगवान् यहाँ पर कह रहे हैं, सारे कर्म ज्ञान में परिसमाप्त होते हैं। इसका अर्थ यह है कि जिन यज्ञों का वर्णन हुआ है तथा दूसरे जितने

भी शुभ कर्मों की बात शास्त्रों में कही गयी है, वे सारे के सारे ज्ञानप्राप्ति के ही निमित्त किये जाते हैं। मलयुक्त अन्तःकरण में ज्ञान की प्रतीति नहीं होती। यज्ञरूप शुभ कर्म, ईश्वर की प्रसन्नता की दृष्टि से किये जाने पर, चित्त को निर्मल बनाते हैं। ऐसा निर्मल हुआ चित्त ही ज्ञान को धारण करने में समर्थ होता है। इसीलिए ज्ञान को समस्त कर्मों की पराकाष्ठा कहा है, क्योंकि कर्मों का लक्ष्य ही वस्तुतः ज्ञान को प्राप्त करा देना है।

यहाँ पर कर्म के लिए दो विशेषण प्रयुक्त किये हैं—'सर्वम्' और 'अखिलम्'। इसका तात्पर्य है—'सारे कर्म, बिना किसी अवशेष के यानी सारे कर्म अपनी सम्पूर्णता में'। अपनी बात को वजनी बनाने तथा ज्ञान की महत्ता को बढ़ाने की दृष्टि से इन दो विशेषणों का प्रयोग भगवान् ने किया है ऐसा माना जा सकता है।

ज्ञान की महिमा सुन अर्जुन के मन में प्रश्न उठ सकता है कि इस ज्ञान की प्राप्ति कैसे की जाय। तो, आगे के श्लोक में उसके मन की बात भाँप भगवान् कृष्ण ज्ञानप्राप्ति का उपाय बता रहे हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

तत् [उस (ज्ञान) को] प्रणिपातेन (दण्डवत् प्रणाम करके) सेवया (सेवा के द्वारा) परिप्रश्नेन (प्रश्न करके) विद्धि (जान) ते (वे) ज्ञानिनः (ज्ञानीजन) तत्त्वदर्शिनः (तत्त्व के वेत्तागण) ज्ञानं (ज्ञान का) उपदेक्ष्यन्ति (उपदेश करेंगे)।

"उस (ज्ञान) को तू (तत्त्वदर्शी ज्ञानियों को) दण्डवत् प्रणाम करके, (उनकी) सेवा करके और (उनसे) प्रश्न करके जान ले। (तेरी ऐसी ज्ञानपिपासा देख और तेरी विनम्रता, सेवा

और प्रश्न से प्रसन्न हुए) वे तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन (तुझे उस) ज्ञान का उपदेश करेंगे।"

भगवान् का मन्तव्य है कि ज्ञान तत्त्वदर्शी ज्ञानियों से मिलेगा। जो केवल शास्त्रों का ज्ञान रखते हैं, पर तत्त्वदर्शी नहीं हैं, ऐसे लोगों के द्वारा दिया गया ज्ञान आध्यात्मिक क्षेत्र में फलप्रसू नहीं होता। ज्ञान के अन्य लौकिक क्षेत्रों में ज्ञान देनेवाले व्यक्ति के ज्ञानसम्पन्न होने से ही काम चल जाता है। यदि कोई भौतिकी, रसायन, गणित, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि में अधिकार रखता है, तो वह अपना ज्ञान दूसरों में बाँटने में समर्थ माना जाता है, पर यह बात अध्यात्म-जगत् में कार्यकर नहीं होती। कोई वेदान्त में पण्डित हो सकता है, पर जब तक उसका चरित्र निखरा हुआ नहीं है, जब तक उसने तत्त्व का दर्शन नहीं किया है, तब तक उसे गुरु होने की पात्रता प्राप्त नहीं होती। अन्य विषयों के ज्ञान के आदान-प्रदान में चरित्र का प्रश्न गौण होता है, पर आध्यात्मिक ज्ञान के आदान-प्रदान में चरित्र की मुख्यता होती है—गुरु का चरित्र भी निष्कलंक हो और शिष्य भी उन्नत चरित्रवाला हो। ज्ञानी के लिए तत्त्वदर्शी कहकर इस चरित्र-पक्ष को ही पुष्ट किया है। ऐसे गुरु के द्वारा प्रदत्त ज्ञान ही शिष्य के जीवन में प्रभावी होता है।

स्वामी विवेकानन्द कहते थे कि अध्यात्म-क्षेत्र में गुरु मिलना बहुत कठिन है, क्योंकि गुरु वे ही हो सकते हैं, जिन्होंने तत्त्व का साक्षात्कार किया है। किन्तु जो तत्त्वद्रष्टा होते हैं, उनमें साधारणतया ज्ञान-प्रदान की प्रवृत्ति नहीं होती, अतएव गुरू होने के लिए उनका ज्ञानी होना भी आवश्यक है। इस प्रकार गुरु ज्ञानी तो हों ही, उन्हें

तत्त्वदर्शी भी होना चाहिए।

'मुण्डकोपनिषद्' (१/२/१२) में भी गुरु के लिए 'श्रोत्रिय' और 'ब्रह्मनिष्ठ' शब्दों का प्रयोग हुआ है। श्रोत्रिय वह है, जिसे श्रुतियों का, शास्त्रों का सम्यक् ज्ञान है। और 'ब्रह्मनिष्ठ' वह है, जिसकी निष्ठा धन, यश आदि में न हो ब्रह्म में, सत्य में है। श्रोत्रिय होकर भी व्यक्ति धननिष्ठ, यशोनिष्ठ हो सकता है, पर ऐसा व्यक्ति ब्रह्मज्ञान देनेवाला गुरु नहीं बन सकता। इसी दृष्टि से गुरु का श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ दोनों होना आवश्यक माना गया है।

बहुवचन में 'ज्ञानी' और 'तत्त्वदर्शी' शब्दों के प्रयोग का अर्थ यह नहीं कि साधक को बहुत से गुरुओं के पास जाना पड़ेगा। यह बहुवचन-प्रयोग उनके प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिए हुआ है।

ऐसे ज्ञानी और तत्त्वदर्शी पुरुष से ज्ञान पाने का उपाय बतलाते हैं——प्रणिपात, सेवा और परिप्रश्न। प्रणिपात साधक की विनम्रता और ज्ञान के प्रति श्रद्धा व्यक्त करता है। सेवा उस व्यक्ति के प्रति उसकी श्रद्धा को प्रदर्शित करती है, जिससे उसे ज्ञान मिलेगा। परिप्रश्न साधक की निश्छल आध्यात्मिक जिज्ञासा को प्रकट करता है। कई लोग सत्संग से इसलिए लाभ नहीं उठा पाते कि वहाँ जाकर वे ऊटपटाँग प्रश्न करते हैं, आत्मविद्या को छोड़ अन्य सब विषयों की चर्चा करते हैं। यह परिप्रश्न नहीं है। यहाँ पर यह तात्पर्य नहीं कि गुरु मान-सम्मान और सेवा के भूखे हैं और न यही कि यह सब बिना किये वे ज्ञान का उपदेश देंगे ही नहीं। इसका तात्पर्य मात्र इतना है कि ज्ञानी, तत्त्वदर्शी पुरुष को शिष्य अपनी विनम्रता, सेवा और जिज्ञासा के बल पर ज्ञान देने के लिए उन्मुख कर ले, अन्यथा उनमें तो

ज्ञान-प्रदान की प्रवृत्ति नहीं होती। लौकिक ज्ञान धन आदि के विनिमय में प्राप्त किया जा सकता है, पर तत्त्व के ज्ञान के साथ ऐसी बात नहीं होती। उसके लिए तो गुरु और शिष्य के बीच आत्मिक सम्बन्ध होना चाहिए। यदि जिज्ञासु औद्धत्य प्रदर्शित करे, परिप्रश्न की आड़ में अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करे अथवा गुरु के ज्ञान की परीक्षा करना चाहे, तो गुरु का हृदय तत्त्वज्ञान के प्रदान हेतु कैसे उन्मुख होगा ? सामान्य लौकिक ज्ञान के क्षेत्र में भी, जहाँ पैसा देकर विद्या सीखी जा सकती है, यदि शिक्षार्थी अकड़ दिखाए, तो सिखानेवाला धन की परवाह न कर उसे 'गेट आउट' कर देता है। फिर यह तो गूढ़ अध्यात्म विद्या की बात है, जहाँ धन के विनिमय का प्रश्न ही नहीं होता ! इस क्षेत्र में यह आवश्यक नहीं कि गुरु तत्त्वज्ञान का उपदेश करें ही, वह उनके लिए बाध्यता नहीं है, यह तो पूरी तरह से उनकी कृपा की बात है। प्रणिपात, सेवा और परिप्रश्न उनकी कृपा को आकर्षित करने के साधन मात्र हैं।

इस प्रकार ज्ञानप्राप्ति का उपाय प्रदर्शित कर अगले चार श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञान का स्वरूप और फल बताते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं——

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।।३५।।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।।३६।।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।३७।।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।३८।।

पाण्डव (हे अर्जुन) यत् (जिसको) ज्ञात्वा (जानकर) पुनः (फिर से) एवं (इस प्रकार) मोहं (मोह को) न (नहीं) यास्यसि (प्राप्त होगा) येन (जिसके द्वारा) अशेषेण (सर्व) भूतानि (भूतों को) आत्मनि (आत्मा में) अथो (तदनन्तर) मयि (मुझमें) द्रक्ष्यसि (देखेगा)।

"हे अर्जुन! जिसको जानकर फिर से तू इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होगा तथा जिस (ज्ञान) के द्वारा तू सम्पूर्ण भूतों को (पहले) अपने में और पीछे मुझ (सच्चिदानन्दघन परमात्मा) में देखेगा।"

चेत् (यदि) सर्वेभ्यः (सारे) पापेभ्यः (पापियों से) अपि (भी) पापकृत्तमः (अधिक पाप करनेवाला) असि (है) ज्ञान-प्लवेन (ज्ञानरूप नौका द्वारा) एवं (ही, निस्सन्देह) सर्वं (समस्त) वृजिनं (पापों को) संतरिष्यसि (अच्छी तरह पार कर जाएगा)।

"यदि तू सारे पापियों से भी अधिक पाप करनेवाला है, (तो भी) ज्ञानरूप नौका द्वारा तू निस्सन्देह समस्त पापों को अच्छी तरह पार कर जाएगा।"

अर्जुन (हे अर्जुन) यथा (जैसे) समिद्धः (प्रज्वलित) अग्निः (आग) एधांसि (ईंधनों को) भस्मसात् (भस्मीभूत) कुरुते (कर देती है) तथा (वैसे ही) ज्ञानाग्निः (ज्ञानरूप अग्नि) सर्वकर्माणि (समस्त कर्मों को) भस्मसात् (भस्मीभूत) कुरुते (कर देती है)।

"हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनों को (जलाकर) भस्ममय कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि समस्त कर्मों को भस्मीभूत कर देती है।"

इह (इस लोक में) ज्ञानेन (ज्ञान के) सदृशं (समान)

पवित्रं (पवित्र करनेवाला) हि (निस्सन्देह) न (नहीं) विद्यते (है) तत् (उस [ज्ञान] को) कालेन (समय आने पर) योग-संसिद्धः (योग में अच्छी तरह सिद्ध हुआ पुरुष) आत्मनि (आत्मा में) स्वयं (अपने आप) विन्दति (पा लेता है)।

"इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला निस्सन्देह कुछ भी नहीं है। उस (ज्ञान) को योग में अच्छी तरह सिद्ध हुआ पुरुष समय आने पर अपने आप आत्मा में पा लेता है।"

३५वें श्लोक में आत्मज्ञान की तीव्रता का संकेत दिया। 'यज्ज्ञात्वा' का अर्थ है 'जिस ज्ञान को जानकर'। किस ज्ञान की बात कही जा रही है?—जिस ज्ञान का उपदेश ज्ञानी और तत्त्वदर्शी जन करेंगे। ज्ञान को जानने का क्या मतलब?—यह कि ज्ञान को अपना बना लेना। ज्ञानियों और तत्त्वदर्शियों ने ज्ञान का उपदेश तो दे दिया, पर वह ज्ञान हमारे काम तब आएगा, जब उसे हम अपना बना लेंगे, अर्थात् उसकी अपने तईं अनुभूति कर लेंगे। ऐसा होने पर वह ज्ञान, हे अर्जुन, तेरे मोह को इस प्रकार दूर करेगा कि वह फिर लौटकर कभी तुझ पर आक्रमण नहीं करेगा। भगवान् कृष्ण देख रहे हैं कि उनके समझाने पर भी बारम्बार अर्जुन का मोह उसकी बातचीत से प्रकट हो रहा है। इसका कारण यह है कि भगवान् के द्वारा दिये गये ज्ञानोपदेश को अर्जुन अभी तक अपना नहीं बना सका है। यदि वह उसे अपना बना ले, तो मोह सदा के लिए निवृत्त हो जाएगा। फिर, उस ज्ञान के द्वारा वह आब्रह्मस्तम्ब समस्त प्राणियों को पहले अपनी अन्तरात्मा में स्थित देखेगा और तदनन्तर भगवान् के भी भीतर अवस्थित अनुभव करेगा। अनुभूति की, ईश्वर-साक्षात्कार

की प्रक्रिया में साधक ईश्वर को पहले अपने भीतर अनुभव करता है और उसके बाद उसे बाहर में सर्वत्र अवस्थित देखता है। यहाँ पर वही क्रम भिन्न प्रकार से उपस्थित किया गया है। ज्ञान की अनुभूति कर लेनेवाला व्यक्ति चराचर प्राणि-जगत् को पहले अपने भीतर अवस्थित अनुभव करता है और इस प्रकार जीव-जगत् के एकत्व का साक्षात्कार करता है। तदनन्तर वह समस्त प्राणि-समुदाय को ईश्वर के भीतर अनुभव करता है और इस तरह जगत् एवं ईश्वर के एकत्व की अनुभूति करता है। फलतः जीव, जगत् और ईश्वर के एकत्व के दर्शन के द्वारा, स्व और पर का भेद विलुप्त हो जाने से, वह फिर से कभी भी उस मोह का शिकार नहीं होता, जिसने उसे अज्ञान-दशा में पीड़ित किया था।

३६वें श्लोक में पुनः ज्ञान की तीव्रता प्रदर्शित की गयी है। यदि मैं सोचूँ कि मैं पापी हूँ, अतः ज्ञान मुझ पर क्या प्रभाव डाल पाएगा, तो इसका उत्तर यहाँ यह कहकर दिया जा रहा है कि दुनिया के पापियों में भले ही तुम सबसे बड़े पापी होओ, पर ज्ञान ऐसी नौका है, जो पाप-सागर को पार करा देती है। यहाँ पर प्रश्न यह नहीं है कि पापी को ज्ञान मिलेगा कैसे, प्रश्न यह है कि ज्ञान यदि किसी प्रकार पापी के जीवन में आ जाय, तो उसका फल क्या होगा? श्रीरामकृष्ण कहते हैं——कोई अपनी इच्छा से गंगाजी में उतरकर स्नान करता है और किसी की इच्छा नहीं है, पर उसे किसी ने धक्का देकर गंगा में गिरा दिया। गंगाजी में नहाने का फल दोनों को एक समान ही मिलेगा। ज्ञान के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। कोई खूब साधना करके ज्ञान पाता है, और किसी पापी के जीवन में सन्त की कृपा से

अनायास ज्ञान आया दिखाई पड़ता है। ज्ञान का वही फल दोनों को मिलेगा। तो, यहाँ कहा कि ज्ञान की नौका समस्त पापों से तरा देती है।

३७वें श्लोक में ज्ञान की तीव्रता प्रदर्शित करने के लिए प्रज्वलित अग्नि का उदाहरण देते हैं। जैसे जलती हुई आग पवित्रता-अपवित्रता का बिना विचार किये सारे ईंधन को जलाकर राख कर देती है, वैसे ही ज्ञान की आग बिना शुभ-अशुभ का विचार किये सारे कर्मों को भस्मसात् कर देती है। तात्पर्य यह कि संचित कर्म जल जाते हैं और क्रियमाण कर्म का क्रम टूट जाता है, जिससे संस्कार पैदा नहीं हो पाता। मात्र प्रारब्ध कर्म बच रहते हैं, जिनका क्षय केवल भोग से होता है।

३८वें श्लोक में बताया कि ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला तत्त्व इस संसार में और दूसरा नहीं है। अग्नि जैसे विभिन्न पदार्थों को जलाकर एक राख में ही सबको परिवर्तित कर देती है, वैसे ही ज्ञान सारे द्वैत को दग्ध कर एक अद्वैत तत्त्व में ही सबको पर्यवसित कर देता है। द्वैत का दूर होना ही पावनता है। तो क्या ऐसा ज्ञान चट से मिल जाता है? कहते हैं—नहीं, यह ज्ञान 'कालेन'—समय आने पर मिलता है। तो क्या किसी के देने से मिल जाता है? कहते हैं—नहीं, वह अपने आप (तत्स्वयं) मिलता है। क्या बाहर से आता है?—नहीं, वह भीतर ही है, साधक उसका अपने भीतर (आत्मनि) अनुभव करता है। तात्पर्य यह कि ज्ञान किसी कर्म का परिणाम नहीं है। वह सदैव भीतर ही है। अन्तःकरण के शुद्ध होते ही पहले से विद्यमान, किन्तु छिपा हुआ, ज्ञान प्रकट हो जाता है। तो क्या ज्ञान ऐसे-वैसे को मिलता है? कहते हैं—नहीं, वह 'योगसंसिद्ध'

को मिलता है। जिसने योग का अभ्यास करके अपने को अच्छी तरह सिद्ध कर लिया है, वही ज्ञान का लाभ करता है। यहाँ 'योग' का तात्पर्य वैसे तो कर्मयोग से है, पर ध्यान-योग, भक्तियोग और ज्ञानयोग को भी इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है। पूर्व में जो सब यज्ञ बताये गये हैं, वे भी जब ईश्वरप्रीत्यर्थ किये जाते हैं, तब योग-साधना के ही अन्तर्गत आते हैं। आचार्य शंकर यहाँ पर 'योग' शब्द पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—'योगेन कर्मयोगेन समाधियोगेन च', अर्थात् योग का अर्थ कर्मयोग या समाधियोग लिया जा सकता है।

'योगसंसिद्ध' का अर्थ है ऐसा व्यक्ति जिसका अन्तः-करण ऐसे योग के अभ्यास से पूरी तरह शुद्ध हो चुका है। योग में सिद्धि का तात्पर्य है अन्तःकरण का शुद्ध होना। शुद्ध हुए चित्त में ही ज्ञान का प्रतिफलन होता है। उसके लिए ऐसा कोई नियम नहीं कि इतने समय तक साधना करने से ज्ञान मिल जाएगा। यह काल का गणित ज्ञान-प्राप्ति में नहीं चलता। वह तो साधक की साधना की तीव्रता पर निर्भर है। इसीलिए कहा कि ज्ञान 'कालेन'—अपने समय से मिलता है।

○

"सिद्धियों को विष्ठातुल्य हेय जानकर उनकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। साधना और संयम का अभ्यास करते हुए कभी-कभी वे अपने आप आ जाती हैं, परन्तु जो उनकी ओर ध्यान देता है, वह उन्हीं में अटक जाता है, भगवान् की ओर अग्रसर नहीं हो पाता।" **—श्री रामकृष्ण**

माँ के सान्निध्य में (४)

स्वामी अरूपानन्द

(प्रस्तुत संस्मरण के लेखक ब्रह्मलीन स्वामी अरूपानन्दजी श्री माँ सारदा के शिष्य एवं सेवक थे। मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री-मायेर कथा' से अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में कार्यरत हैं।—स०)

जयरामवाटी : १६ दिसम्बर १९०९

घाटाल का सेवाकार्य समाप्त करके मैं फिर से जय-रामवाटी के लिए रवाना हुआ। अतुल काफी दूर तक साथ आकर रास्ता दिखा गया। सन्ध्या होने से कुछ पूर्व मैं पहुँच-कर देखता हूँ माँ अपने कमरे के बरामदे में पैर लम्बा करके बैठी हैं और घुटने में (वात की) दवा मल रही हैं। मैंने उन्हें प्रणाम किया और बैठकर उनसे पूछा, "अब यह कौन-सी दवा लगा रही हो ?" माँ ने कहा, "एक ने यह पत्ता कूटकर लगाने के लिए कहा था। क्या सारे दिन कुछ खाया नहीं ?" मेरा चेहरा देखकर वे समझ गयी थीं। मेरे 'ना' कहने पर वे बोलीं, "रास्ते में कुछ मिठाई-विठाई क्यों नहीं खायी ? रामजीवनपुर में तो दुकान है।"

उपेन महाराज ने घाटाल से मठ जाने के लिए खर्च के लिए एक रुपया दिया था। मठ जाने के समय उसकी जरूरत पड़ेगी सोचकर मैंने उसे खर्च नहीं किया था। किन्तु माँ से वह बात नहीं कही। माँ ने कहा, "बैठो, मैं भात परोस देती हूँ, अभी तैयार हुआ है।" फिर कहने लगीं, "जिनका संसार है, वे

दखेंगे, तुम लोगों का उस सबसे कोई मतलब नहीं है।" (मेरा खाना नहीं हुआ है जानकर वे दुःखी हुई थीं।) माँ शीघ्र भात, दाल, तरकारी तथा और भी जो कुछ था स्वयं ले आयीं। खाने के बाद पान दिया। सन्ध्या हो चली थी। माँ के साथ बातचीत होने लगी।

माँ—तुम्हारे द्वारा ठाकुर बहुत सा काम कराएँगे। देखो न, घाटाल में तुम लोगों ने कितने लोगों को दिया, इससे कितने लोगों का उपकार हुआ। काम हो जाने पर, समय पर वे अपने धन को अपनी गोद में खींच लेंगे।

मैं—मैं ठाकुर को देख क्यों नहीं पाता हूँ?

माँ—पाओगे, पाओगे, समय होते ही पाओगे। मेरा ललित (चटर्जी) कभी ऐसी बात नहीं कहता था कि ठाकुर को क्यों नहीं देख पाता हूँ। उसका भाव था—वे अपने हैं, जब भी होगा दर्शन पाऊँगा ही।

मैं—माँ, देखना जिससे मेरा कल्याण हो, शुद्धा-भक्ति हो।

माँ—होगी, होगी। शुद्धाभक्ति प्राप्त होगी।

माँ एक कम्बल देकर बोलीं, "यह कम्बल लो, रात में ओढ़ने के लिए।" मैंने पूछा, "यह किसका कम्बल है?" माँ ने कहा, "मेरा ही है, मैं इसे काम में लाती हूँ।"

जयरामवाटी : १८ दिसम्बर १९०९

माँ अपने कमरे के बरामदे में दरवाजे के पास बैठी पान बना रही थीं। सुबह ९ बजे का समय होगा। मुझे

नाश्ते के लिए मुरमुरा दिया था। खाने के बाद बातचीत चलने लगी।

मैं——माँ, इस बार मुझे अधिक दिनों तक मत रखना।

माँ——यदि रहने की इच्छा नहीं हुई तो तुम मेरे साथ जाना। समय होने पर (देहत्याग के पश्चात्) सभी (भक्त) जाएँगे।

मैं——माँ, देखना ठीक याद रहे।

माँ——वही तो कह रही हूँ। मैं आकर तुमको अपने साथ ले जाऊँगी।

मैं——इस बार तुम मुझे ले जाओ। अगली बार जब ठाकुर आएँगे, तब मैं उनके साथ आऊँगा।

माँ ने हँसकर कहा, "मैं तो अब और नहीं आ रही हूँ।"

मैं——तुम आओ या मत आओ, पर मैं तो आऊँगा। मेरी आने की इच्छा है।

माँ——हो सकता है तब तुम्हारी आने की इच्छा ही न हो। इस संसार में है ही क्या? कौन-सी चीज अच्छी है, बोलो तो? तभी तो ठाकुर ने सहजन की फल्ली और परवल की पत्ती यह सब छोड़ और कुछ नहीं खाया। जब उन्हें सन्देश खिलाने जाती, तो वे कहते, 'उसमें भला क्या है? जैसी मिट्टी, वैसा ही सन्देश!'

मैं——तुम ठाकुर की बात क्यों उठाती हो? उनकी क्या किसी से तुलना हो सकती है?

माँ——ठीक ही कहते हो। उनके-जैसा क्या और कोई हुआ है! होने से कोई बात होती।

इसी समय वरदा-मामा माँ को चिट्ठी पढ़कर सुनाने आये। इन चिट्ठियों में मेरे भाई की भी एक चिट्ठी थी। उसमें उन्होंने माँ से मुझे घर भिजवा

देने के लिए अनुरोध किया था। चिट्ठी छोटी होने पर भी भाषा और भाव की दृष्टि से अच्छी थी। सुनकर माँ ने कहा, "अहा, कैसा सुन्दर लिखा है!" फिर मुझसे कहने लगीं, "क्यों, संसार में रहना, घर-परिवार देखना, और पैसे कमाना।" वे मेरी परीक्षा ले रही थीं। मैंने कहा, "माँ, वह सब मत कहो।"

माँ—इतने लोग तो घर-संसार कर रहे हैं। तुम अगर नहीं करना चाहो तो मत करो।

मैं तब रोने लगा। यह देख वे करुणार्द्र हो बोलीं, "रोओ मत, रोओ मत, बेटे, तुम लोग ही भगवान् हो। कौन है जिसने भगवान् के लिए सब कुछ त्यागा हो? ईश्वर के प्रति शरणागत होने से विधि का विधान खण्डित हो जाता है। विधि को अपना लिखा स्वयं ही काटना पड़ता है। ईश्वर-लाभ होने से और क्या होता है? क्या दो सींग निकल आते हैं? नहीं। उससे सद्-असत् विचार होता है, ज्ञान जागता है और व्यक्ति जन्म-मृत्यु के पार चला जाता है। भाव में ईश्वर के दर्शन होते हैं—इसके अतिरिक्त भला भगवान् को किसने देखा है, भगवान् ने किसके साथ बातचीत की है? भाव में दर्शन, भाव में बातचीत, सब कुछ भाव में होता है।

मैं—नहीं माँ, इसके सिवाय कुछ और भी है—जैसे प्रत्यक्ष अनुभूति।

माँ—वह एकमात्र नरेन* ने पाया था। फिर ठाकुर ने उसकी मुक्ति की चाबी अपने हाथ में रख ली थी।

* नरेन्द्र—स्वामी विवेकानन्द का पूर्वनाम।

"आध्यात्मिक जीवन और क्या है—जप-ध्यान करना, ठाकुर को पुकारना, यही सब तो है न ?" यह कहकर फिर वे सहास्य कहने लगीं, "और 'ठाकुर-ठाकुर' में ही भला क्या है? वे तो सब समय अपने ही हैं।"

मैं—माँ, देखना जिससे मेरा यथार्थ कल्याण हो, ठाकुर को ठीक 'अपना' अनुभव कर सकूँ।

माँ—उसके लिए क्या बार-बार बोलूँ? (दृढ़ता के साथ) होगा, अवश्य होगा।

जयरामवाटी : १९ दिसम्बर १९०९

रात में माँ के कमरे में बातचीत चल रही है। माँ तख्त पर लेटी हुई हैं। वेदान्त की बात उठी। मैंने कहा, "नाम और रूप के सिवाय कुछ भी नहीं है। जड़ पदार्थ नाम की कोई वस्तु है यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इसलिए निष्कर्ष यह है—ईश्वर नाम का कुछ भी नहीं है।" (मेरे मन का भाव था कि ठाकुर, माँ ये सब भी मिथ्या हैं।)

माँ सुनते ही मेरे कहने का तात्पर्य समझ गयीं। तुरन्त बोलीं, "नरेन ने कहा था, 'माँ, जो ज्ञान गुरु के पादपद्मों को उड़ा देता है, वह तो अज्ञान है। गुरु के चरणकमलों को अस्वीकार कर भला ज्ञान कहाँ स्थित होगा?' तुम ज्ञान के उधेड़बुन में मत पड़ो। उनको भला कौन जान पाया है? शुकदेव, व्यास, शंकर अधिक से अधिक बड़े चींटे के समान हैं।"

मैं—माँ, मेरी जानने की इच्छा है, कुछ कुछ समझ भी पाता हूँ। विचार कैसे बन्द हों?

माँ—ठीक-ठीक पूर्ण ज्ञान नहीं होने से विचार

जाते नहीं।

फिर सृष्टि की बात चली।

मैं—अच्छा, ये जो सब छोटे-बड़े असंख्य प्राणी हैं, उन सबों की उत्पत्ति क्या एक ही समय हुई है?

माँ—तुम क्या समझते हो कि जैसे चित्रकार तूलिका लकर एक-एक करके आँख, नाक, मुँह बनाकर चित्र को पूरा करता है, उसी प्रकार भगवान् ने एक-एक करके सृष्टि की रचना की है? नहीं, उनकी एक शक्ति है। उनकी 'हाँ' से संसार में सब सृष्ट हो जाता है और उनके 'ना' करने से सब कुछ का लोप हो जाता है। जो कुछ हुआ है सब एक समय ही हुआ है। एक-एक करके नहीं हुआ।

माँ के कमरे में खाने की वस्तु की गन्ध पाकर काले चींटे आसपास घूम रहे थे। अचानक मेरी दृष्टि एक चींटे पर पड़ने से मैंने उँगली दिखाकर माँ से कहा, "तब यह चींटा क्योंकर इतना पीछे रह गया? उसके तो मनुष्य होने में बहुत देरी है।" माँ ने कहा, "हाँ, बहुत देरी है।" कुछ देर बाद सृष्टि के प्रसंग में ही उन्होंने कहा, "कल्प का अन्त होने पर सब मानो नींद से उठते हैं।"

इसके बाद मैंने जप-तप के बारे में जिज्ञासा की। माँ बोलीं, "जप-तप से कर्म के बन्धन कट जाते हैं। किन्तु भगवान् को पाने के लिए प्रेम-भक्ति के सिवाय दूसरा उपाय नहीं है। जप-तप क्या है जानते हो? उसके द्वारा इन्द्रियों का प्रभाव नष्ट होता है।"

ललितबाबू (चटर्जी) की बात उठी। कई महीने से वे बीमार हैं। उनकी अवस्था संकटापन्न है। माँ

उन्हें बहुत प्यार करती हैं तथा उनके लिए विशेष रूप से चिन्तित हैं। माँ कहने लगीं, "ललित ने रुपयों द्वारा मेरी बड़ी मदद की। वह मुझे अपनी गाड़ी में बिठाकर घुमाने ले जाता। दक्षिणेश्वर में माँ-काली की तथा (कामारपुकुर में) रघुवीर की सेवा के लिए बहुत रुपया देता है। मेरे ललित का हृदय लाख रुपये का है। बहुत से लोग तो धनी होने पर भी कंजूस होते हैं। जिसके पास पैसा है, उसे पैसे को भगवान् और भक्त की सेवा में लगाना चाहिए और जो गरीब है, उसको जप द्वारा भगवान् की सेवा करनी चाहिए। इन दोनों उपायों से ही भगवान् की कृपा प्राप्त की जा सकती है।"

प्रेम-भक्ति की चर्चा करते हुए माँ ने कहा, "क्या वृन्दावन के गोप-गोपियों ने कृष्ण को जप-ध्यान करके प्राप्त किया था? नहीं, उन्होंने कृष्ण को अपने अनन्य प्रेम के द्वारा, 'आ रे कन्हाई, खा ले रे, पी ले रे,' यही सब करके पाया था।"

मैं—उनका प्रेम प्राप्त नहीं होने से उनके लिए प्राण क्योंकर व्याकुल होंगे?

माँ—सो तो ठीक, वह उनकी कृपा से होता है।

जयरामवाटी : ३१ दिसम्बर १९०९

सबेरे ८-९ बजे जाकर देखता हूँ माँ घर में बैठी पान बना रही हैं। मैं पास में बैठकर बातचीत करने लगा।

मैं—माँ, तुम्हारे बारे में इतना देखता और सुनता हूँ, फिर भी तुम्हें 'अपनी माँ' के रूप में नहीं जान पाया।

माँ—यदि तुम 'अपना' न जानते होते तो इतना अधिक यहाँ क्योंकर आते? समय होने पर 'अपनी माँ' को जान जाओगे।

कुछ समय बाद मैंने उनसे अपने माता-पिता और भाइयों की चर्चा की। मैंने कहा, "माता-पिता ने मुझको बड़ा किया। अब (देहत्याग के बाद) वे लोग कहाँ हैं, किस प्रकार हैं, उनके बारे में कुछ नहीं जानता। माँ, भाइयों को जिससे सन्मति हो, ऐसा आशीर्वाद दो।"

माँ बोलीं, "क्या सभी लोग भगवान् को चाहते हैं? इस घर में कितने लोग हैं, पर क्या सब मुझको चाहते हैं?" कुछ देर बाद कहने लगीं, "विवाह मत करना, संसार में मत पड़ना। विवाह नहीं करने से जहाँ भी रहोगे, स्वतन्त्र होकर रहोगे। विवाह करना ही महापाप है।"

मैं—माँ, किन्तु मुझे डर लगता है।

माँ—नहीं, डर की कोई बात नहीं है। सब ठाकुर की इच्छा पर छोड़ दो।

मैं—मन को ही तो लेकर सब कुछ है। यदि मन ठीक हो तो जहाँ कहीं भी रह सकता हूँ। माँ, तुम देखो जिससे मेरा मन ठीक रहे।

माँ—वैसा ही होगा।

(क्रमशः)

○

रामकृष्ण मिशन का अबूझमाड़ प्रकल्प

अबूझमाड़ मध्यप्रदेश के बस्तर जिले का एक दुर्गम भौगोलिक क्षेत्र है, जो लगभग ३,९०० वर्ग किलोमीटर में फैला हुआ है। वह लगभग ६ महीने बाहरी दुनिया से पूरी तरह कटा हुआ रहता है। वहाँ के मुख्य निवासी अत्यन्त आदिम कबीले के लोग हैं, जो 'माड़िया' या 'पहाडी माड़िया' के नाम से जाने जाते हैं। 'अबूझमाड़' शब्द 'अबूझ' और 'माड़' इन दो शब्दों से बना है। 'अबूझ' वह है, जो न समझा गया हो, और 'माड़' कहते हैं पहाड़ को। इस प्रकार अबूझ-माड़ वह अजाना आदिवासी क्षेत्र है, जहाँ अभी भी आदिम जाति का मूल स्वरूप दिखाई देता है और जहाँ शिक्षा, संस्कृति एवं आधुनिक चिकित्सा के आलोक की किरण नहीं पहुँच पायी है। वह क्षेत्र अभी भी राजस्व विभाग के अन्तर्गत नहीं आया है।
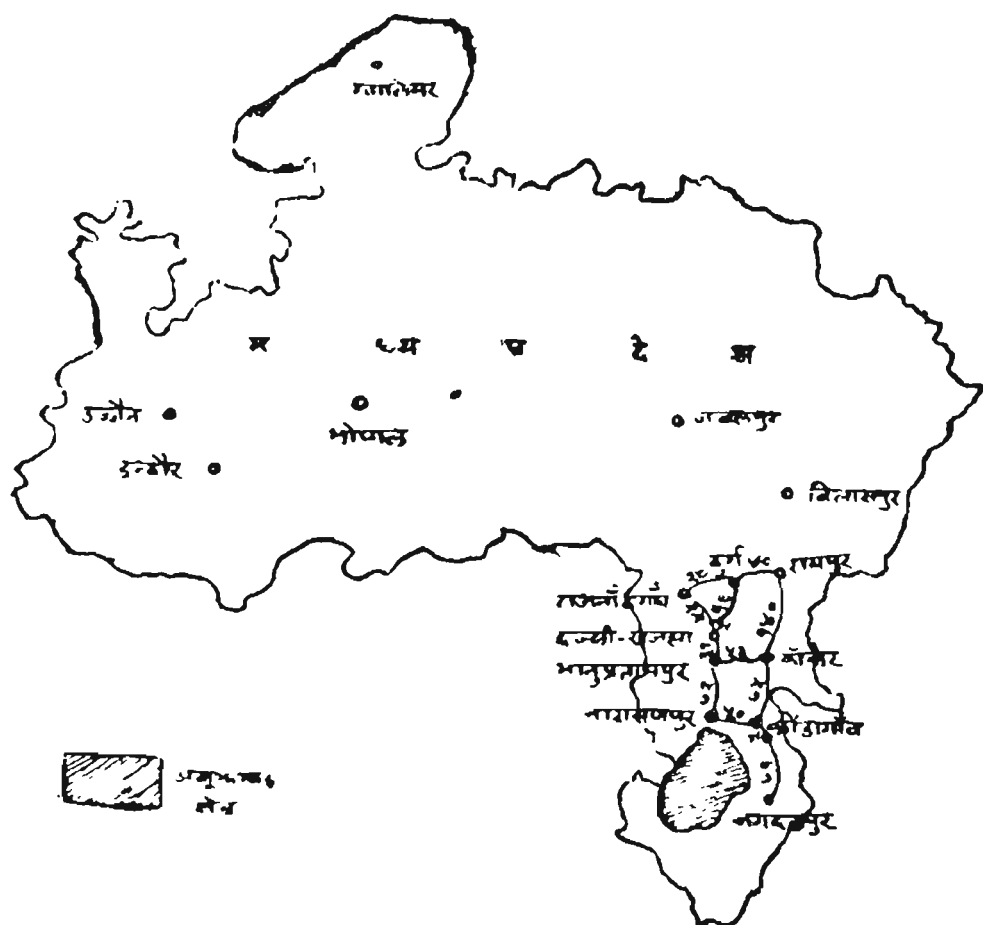
इस क्षेत्र में कार्य करने के लिए रामकृष्ण मिशन मुख्यालय, बेलुड़ मठ (कलकत्ता) ने रायपुर के रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम को बस्तर जिले के तहसील मुख्यालय नारायणपुर में अपनी उपशाखा खोलने की अनुमति प्रदान की है। नारायणपुर अबूझमाड़ प्रकल्प के लिए रामकृष्ण मिशन का मुख्यालय-जैसा रहेगा। यहाँ के कार्य की सफलता का मूल्यांकन करने के बाद अबूझमाड़ के भीतर सेवा-केन्द्र खोलने का उपक्रम किया जाएगा।

नारायणपुर में अबूझमाड़-क्षेत्र के लोगों की सेवा करने के लिए उनके लड़के-लड़कियों के लिए आवासीय विद्यालय होंगे, जनसाधारण के लिए आधुनिकतम उपकरणों से सज्जित आदर्श स्वास्थ्य सेवाएँ होंगी, चल-चिकित्सालय होंगे तथा उनकी आर्थिक अवस्था में सुधार लाने की दृष्टि से कृषि, डेयरी, विविध देसी शिल्प एवं कुटीर उद्योगों के प्रशिक्षण की व्यवस्था होगी। साथ ही, उन पर होनेवाले शोषण से उन्हें संरक्षण प्रदान करने के लिए उचित मूल्यवाला क्रय-विक्रय भण्डार भी होगा।

इन सब कार्यों के लिए मध्यप्रदेश शासन ने नारायणपुर में ४२ एकड़ का भूमिखण्ड आश्रम को प्रदान किया है। प्रकल्प बहुत बड़ा है, जिसकी कल्पना नीचे दिये भवनों पर लगनेवाले अनुमानित व्यय से हो सकेगी:—

१.	चिकित्सालय (३० शय्यावाला) भवन (उपकरणों सहित)।	.. रु. ४० लाख
२.	एम्बुलेंस	.. रु. २ लाख
३.	चल-चिकित्सालय वाहन	.. रु. ३ लाख
४.	लड़कों का विद्यालय भवन	.. रु. १७ लाख
५.	१०० लडकों का छात्रावास	.. रु. १५ लाख

६.	चिकित्सकों एवं शिक्षकों हेतु निवास-व्यवस्था (२० मकान)	.. रु. २० लाख
७.	कर्मचारी निवास (वर्ग ३ एवं ४) (३२ मकान)	.. रु. १६ लाख
८.	कुटीर उद्योग प्रशिक्षण केन्द्र	.. रु. ५ लाख
९.	उचित मूल्य भण्डार एवं गोदाम	.. रु. ६ लाख
१०.	प्रशासनिक भवन	.. रु. ६ लाख
११.	उपासना गृह	.. रु. १४ लाख
१२.	ग्रन्थालय एवं प्रदर्शनी भवन	.. रु. १२ लाख
१३.	साधु निवास	.. रु. ९ लाख
१४.	अतिथि भवन	.. रु. ४ लाख
१५.	गैरेज एवं वर्क शाप	.. रु. ४ लाख
१६.	जल प्रदाय योजना	.. रु. ९ लाख
१७.	भूमि-विकास, सड़कें, हाते आदि	..यथा आवश्यक

ऊपर हमने केवल भवन और उपकरण-उपस्कर में ही लगनेवाले व्यय का लेखा-जोखा दिया है। आवर्ती व्यय भी बहुत अधिक होगा, क्योंकि उस क्षेत्र के वनवासी गिरिजनों के लिए चिकित्सा एवं शिक्षा पूरी तरह से निःशुल्क रहेगी। रामकृष्ण मिशन उन लोगों के लिए भी वैसी ही उच्च-स्तर की शिक्षा एवं चिकित्सा सुविधाएँ उपलब्ध करना चाहता है, जैसी नगरवासियों को सुलभ होती हैं।

विगत २ अगस्त को नारायणपुर में हमने अपनी भूमि पर अस्थायी निवास बनाकर 'नव-आश्रम प्रवेश' कर लिया है। उस दिन प्रातः ७-३० बजे नये आश्रम के उपासना-कक्ष में भगवान् श्रीरामकृष्णदेव, श्री माँ सारदादेवी एवं स्वामी विवेकानन्दजी के चित्रपटों को पधराकर विशेष पूजा, होम-हवन, चण्डी-पाठ, गीता-

पाठ, भजन आदि किये गये । अपराह्न ४ बजे की जनसभा के मुख्य अतिथि थे बस्तर संभाग के आयुक्त श्री जे. एस. कपानी । सभा की अध्यक्षता बस्तर संभाग के लोक निर्माण विभाग के अधीक्षण यंत्री श्री डी. डी. शर्मा ने की । सभा में नारायणपुर एवं आसपास के नागरिक तथा शासकीय अधिकारी बड़ी संख्या में उपस्थित थे ।

विभिन्न भवनों के निर्माण-कार्य तेजी से चले हुए हैं और शीघ्र ही आउट-डोर अस्पताल तथा चल-चिकित्सालय शुरू कर दिये जाएँगे ।

अव हमें आवश्यकता है आपके उदार सहयोग की, जिसके बिना हम अपना सेवा-कार्य सुदूर वनवासी क्षेत्रों में नहीं ले जा पाएँगे ।

आप निम्नलिखित प्रकार से अपनी सहायता दे सकते हैं--

(१) किसी भी भवन के निर्माण के लिए पूर्ण या अंशदान ।

(२) चिकित्सालय की एक शय्या के लिए १ लाख रु. का स्मृति-कोश । (चिकित्सा, दवा, पथ्य-भोजन आदि पर एक शय्या के लिए एक हजार रुपय का मासिक खर्च पड़ेगा । ऐसी ३० शय्या की व्यवस्था रहेगी ।)

(३) आवासीय विद्यालय के एक छात्र के लिए २५,०००) का स्मृति-कोश । (एक छात्र के भोजन, वस्त्र, पुस्तकें, शिक्षा एवं खेल-कूद आदि पर वर्ष में लगभग अढ़ाई हजार रुपए का व्यय होगा । ऐसे १०० छात्रों के रखने की व्यवस्था रहेगी ।)

(४) आवर्ती आदि व्ययों के लिए यथाशक्ति दान ।

विशेष द्रष्टव्यः--आश्रम के इन सभी कार्यों के लिए दिये गये दान आयकर अधिनियम की धारा ८०-जी के अनुसार आयकर से मुक्त हैं ।

आप अपनी सहयोग-राशि 'रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम' के नाम से रायपुर –४९२ ००१ (म. प्र.) के पते पर भेज सकते हैं ।

○

रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन

अखिल भारतीय युवा सम्मेलन

२४ से ३० दिसम्बर, १९८५

स्थान—बेलुड़ मठ, जिला—हावड़ा (पश्चिम बंगाल)

इस सम्मेलन में लगभग १५,००० युवक और युवतियों के, जो १६ से ३० वर्ष की आयु के बीच हैं, प्रतिनिधि के रूप में भाग लेने की सम्भावना है।

सम्मेलन के समारम्भ एवं समापन सत्रों के बीच अधिवेशन सत्र होंगे; श्रीरामकृष्ण, श्री माँ सारदा तथा स्वामी विवेकानन्द पर विचारोत्तेजक वार्ताएँ होंगी; तीर्थयात्रा होगी; दक्षिणेश्वर तक की शोभायात्रा होगी; आदि-आदि। इसके अलावे, सन्ध्या के समय सुरुचिपूर्ण सांस्कृतिक कार्यक्रम होंगे। युवा प्रतिनिधिगण संवाद, प्रश्नोत्तर सत्र, पाठावृत्ति, भाषण और गायन आदि में भाग ले सकेंगे।

संवाद के विषय:—

(१) जनसाधारण की उन्नति के लिए स्वामी विवेकानन्द का दिशा-बोध

(२) राष्ट्रीय एकता को पुष्ट करने में युवा नेतृत्व की भूमिका

(३) ग्रामीण पुनर्निर्माण में युवाशक्ति की भूमिका

(४) व्यक्तिगत एवं सामूहिक जीवन में मूल्य-बोध।

(५) आधुनिक युवावर्ग की समस्याएँ—उनके समाधान के लिए कार्यक्रम।

(६) अशिक्षा, जातिवाद एवं अस्पृश्यता को दूर करने के लिए युवाशक्ति क्या कर सकती है

संवाद का माध्यम:—

अँगरेजी, हिन्दी और बँगला

विभिन्न कार्यक्रमों के लिए युवा प्रतिनिधियों का चुनावः--
सम्मेलन के अधिकारीगण वर्ग-संवाद (ग्रूप डिस्कशन) एवं अन्य कार्यक्रमों के लिए, प्रतिनिधि बनानेवाले केन्द्रों की अनुशंसा के आधार पर, कुछ युवा प्रतिनिधियों का चुनाव करेंगे। जो युवा प्रतिनिधि ऐसे किसी कार्यक्रम में भाग लेने के इच्छुक हों, वे निर्धारित आवेदन-पत्र में उसे व्यक्त कर सम्बन्धित केन्द्र को दे दें।

उनमें से विभिन्न कार्यक्रमों के लिए कुछ सीमित प्रतिनिधियों को चुना जाएगा। ऐसे चुने गये प्रतिनिधियों को सम्मेलन शुरू होने से ३ दिन पूर्व, कार्यक्रमों के दिशाबोध के लिए आयोजित शिविर में भाग लेने को कहा जाएगा। तीन दिनों की इस अतिरिक्त अवधि के लिए उनसे अन्य कोई अतिरिक्त व्यय नहीं लिया जाएगा।

सम्मेलन में प्रतिनिधि के रूप से भाग लेने तथा अन्य जानकारी के लिए कृपया अपने समीप के रामकृष्ण मठ/रामकृष्ण मिशन केन्द्र से सम्पर्क करें अथवा सचिव, रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन युवा सम्मेलन, गोल पार्क, कलकत्ता-७०००२९ को लिखें।

O

मेरा विश्वास युवा पीढ़ी पर, आज की पीढ़ी पर है। उसमें से मेरे कार्यकर्ता निकलेंगे। वे सिंहों की भाँति सारी समस्या का निदान प्रस्तुत करेंगे। मैंने प्रारूप बना लिया है और उसके लिए अपना जीवन दे दिया है. . .। वे लोग एक केन्द्र से दूसरे में फैलते जाएँगे, जब तक कि हम पूरे भारत को अपने कार्यक्षेत्र में नहीं लपेट लेते।"

--स्वामी विवेकानन्द